गीता में भक्ति योग

डॉ. हरवंशलाल ओबराय

सम्पादक एवं संकलनकर्ता
स्वामी संवित् सुबोधगिरि

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र

खण्ड 1 : राष्ट्रीय समस्याएं और इतिहास
खण्ड 2 : महापुरुष : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व
खण्ड 3 : धर्म-दर्शन-संस्कृति-उत्सव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान
खण्ड 4 : वेदान्त दर्शन की वैज्ञानिकता
खण्ड 5 : गीता दर्शन की सार्वभौमिकता

प्रकाशक एवं वितरक :
स्वामी संवित् सुबोधगिरि
श्री नृसिंह भवन
संन्यास आश्रम, भक्तानन्द शिव मन्दिर
भीनासर 334403
बीकानेर (राजस्थान)
मो. : 09413769139

ISBN 978-81-929055-8-7

अन्य पुस्तक प्राप्ति स्थान :

श्री सुशील कुमार ताम्बी
प्रज्ञा साधना आध्यात्मिक पुस्तक केन्द्र
A/3 आर्य नगर
एन.के. पब्लिक स्कूल के पास
मुरलीपुरा, जयपुर 302039
फोन : 0141-2233765
मो. : 09829547773

ज्ञान गंगा प्रकाशन
पाथेय भवन,
बी-19, न्यू कॉलोनी, जयपुर
दूरभाष : 0141-2371563

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना
आप्टे भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला
नई दिल्ली 110055
फोन : 011-23675667

जागृति प्रकाशन
श्री कृष्णानन्द सागर
एफ-109, सेक्टर-27, नोएडा 201301
दूरभाष : 0120-2538101
मो. : 09871143768

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण : 2014 ई.

प्रतियां : 1100

मूल्य : तीस रुपये मात्र

आवरण : गौरी शंकर आचार्य

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

GITA MEN BHAKTI YOG : Dr. Harbans Lal Oberai (Hindi)
Edited by Swami Samvit Subodhgiri ₹ 30

प्रकाशकीय

गीता वह दिव्य आध्यात्मिक संगीत है जिसे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ने गीत के माधुर्य के साथ गाया है। यह एक दार्शनिक गीत है जिसमें देशीय, कालीय एवं कर्मकाण्डीय तत्त्व न होने से तथा इसका वैचारिक जादू न केवल भारतीय मनीषा को वरन् विश्व मनीषा को अपने जन्म लग्न से आज तक आकृष्ट करता आ रहा शाश्वत एवं पूर्ण दर्शन है। इसकी तुलना निर्मल हीरे से की जा सकती है। हीरे से प्रकाश पाने के लिए उसे तराशना पड़ता है। गीता को कर्मयोग की दृष्टि से देखेंगे तो कर्मयोग का पूर्ण प्रकाश मिलेगा। ध्यानयोग की दृष्टि से देखेंगे तो ध्यानयोग का पूर्ण प्रकाश मिलेगा। भक्तियोग की दृष्टि से देखेंगे तो भक्तियोग का पूर्ण प्रकाश मिलेगा। ज्ञानयोग की दृष्टि से देखेंगे तो ज्ञानयोग पूर्ण प्रकाश मिलेगा। आध्यात्मिक दृष्टि से देखेंगे तो गीता जैसा कोई ग्रंथ नहीं मिलेगा। अवतारी महापुरुषों की दृष्टि से देखेंगे तो भगवान् कृष्ण जैसा कोई व्यक्तित्व नहीं मिलेगा। आज जाने-अनजाने में राष्ट्र एवं विश्व जिन समस्याओं से घिर गया है, उससे उबारने की क्षमता किसी ग्रंथ में है तो वह भगवद्गीता में है, भगवान् कृष्ण में है। अमरीका का प्रसिद्ध दार्शनिक इमर्सन कहता है—जीव और जगत् की कोई ऐसी समस्या नहीं है जिसका समाधान गीता के पास न हो और सचमुच में, न केवल आध्यात्मिक, दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक जगत् में वरन् जीवन के हर व्यावहारिक क्षेत्र में, चाहे वह व्यावसायिक जगत् हो, औद्योगिक जगत् हो, प्रबंधकीय जगत् हो, चिकित्सा जगत् हो, अपराध शमन जगत् हो, खेल जगत् हो, वैज्ञानिक जगत् हो, पर्यावरणीय जगत् हो, युद्ध क्षेत्र हो, शिक्षा जगत् हो—इन सभी क्षेत्रों में गीता का सफल प्रयोग हो रहा है। इन सब क्षेत्रों की सफलता में गीता का विशिष्ट अवदान है।

इसके दोनों लेख डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र के पंचम खण्ड से संकलित है। परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज के आशीर्वाद तथा सांखला प्रिंटर्स के प्रिंटिंग कार्य में सौहार्दपूर्ण सहयोग से प्रकाशित हो रहा है।

शिवाकांक्षी

—स्वामी संवित् सुबोधगिरि

सम्पादक व संकलनकर्ता

मो. 09413769139

अनुक्रम

गीता ध्यान

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः।।

जो भगवान् श्रीकृष्ण प्रपन्नों (शरणागतों) के लिए कल्पवृक्ष (पारिजात) के समान हैं, जो एक हाथ में रथ के घोड़ों की लगाम और चाबुक थामे हुए हैं, जो ज्ञानमुद्रा में अर्जुन को एवं सारे विश्व को ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्र का उपदेश कर रहे हैं—उन गीता रूपी अमृत का दोहन करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है।

प्रपन्न

गीता एवं श्रीकृष्ण की इस स्तुति श्लोक में ही बहुत बड़ा रहस्य गुम्फित है। मानव बिना भगवान् की प्रपत्ति के सम्पत्ति चाहता है। किन्तु उसे मिलती विपत्ति ही है। वास्तव में सारे ऐश्वर्य का स्वामी तो ईश्वर है, समस्त माया का स्वामी महेश्वर है, प्रकृति का स्वामी तो परमेश्वर है, वैभव का स्वामी तो विभु है, सारी प्रभुता तो प्रभु की है और लक्ष्मी तो नारायण की और शक्ति तो शिव की सहचरी है। अतः बिना प्रभु प्रपत्ति के सम्पत्ति की कामना विपत्ति को ही खुला निमंत्रण है। लोक व्यवहार में जब हम दूसरे की सम्पत्ति को लेने की अनधिकार चेष्टा करते हैं तो विपत्ति भी मोल लेनी पड़ती है। इस संसार में आते समय हम एक कौड़ी साथ लेकर नहीं आए और जाते समय एक छदाम भी साथ लेकर नहीं जा सकेंगे। इसलिए यह सम्पत्ति हमारी तो है ही नहीं। सृष्टि के हर मानव की हमारे समान यही स्थिति है। अतः सम्पत्ति किसी भी मानव की नहीं। फिर प्रश्न उठता है यह सम्पत्ति किसकी है? उपनिषद् ने उत्तर दिया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।

अर्थात् जगत् में जो कुछ भी है सब प्रभु का है। प्रभु द्वारा रचा हुआ है। प्रभु द्वारा व्याप्त है और प्रभु में व्याप्त है। अतः परमेश्वर के नाम पर कृतज्ञतापूर्वक यज्ञभाव से त्यागपूर्वक समर्पण कर शरणागति की भावना से प्रभु के प्रसाद रूप में

प्रभु की सम्पत्ति को भोगना चाहिए तथा किसी अन्य की सम्पत्ति की ओर गिद्ध-(लोभ) दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। इसमें एक दूसरी ध्वनि यह भी है कि यह धन किसी अन्य का है। अर्थात् जब सब कुछ प्रभु का है तो हम मनुष्य की चोरी कर छूट ही नहीं सकते तो सर्वशक्तिमान की चोरी करके कहां से छूट सकेंगे।

उपनिषद् के इस मंत्र में एक और ध्वनि यह है कि स्वामी प्रभु है। हम मानव प्रभु की सम्पत्ति के न्यासी (Trustee) मात्र हैं। हमें इस सम्पत्ति का व्यक्ति, परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र और विश्व के अधिक से अधिक कल्याण के लिए सदुपयोग करना चाहिए। इस Trusteeship की भावना को '**निमित्तमात्रंभव सव्यसाचिन्**' कहकर समझाया गया है।

प्रभु शरणागति (प्रपत्ति) ही गीता का अन्तिम निष्कर्ष है। क्योंकि भगवान् पूरी गीता का सदुपदेश देने के बाद अन्तिम वचन यही कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। 18/66, गीता

भगवान् इससे तीन श्लोक पहले भी इसी भाव को अपनी दिव्यवाणी से मुखरित कर रहे हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। 18/62, गीता

शरणागति (प्रपत्ति) गीता का अन्तिम उपदेश मात्र ही न होकर गीता के शुभारम्भ की कुंजी है। प्रथम अध्याय में अर्जुन अनेक तर्क-वितर्क करता रहा। किन्तु भगवान् ने मुख तक नहीं खोला। अर्जुन रो रहा है और भगवान् मुस्करा रहे हैं। दूसरे अध्याय के श्लोक संख्या दो-तीन में भगवान् ने महारथी अर्जुन की दुर्बलता से रोने पर व्यंग्य से ताना तो मारा है पर उपदेश प्रारम्भ नहीं किया है। जब दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक में अर्जुन सब तर्क-वितर्क छोड़कर भगवान् के शरणागत होकर प्रार्थना करता है कि मैं आपकी चरण-शरण में आया हूं, आपका शिष्य हूं, मेरे लिए जो कुछ कल्याणकारी मार्ग हो आप आदेश देवें; तभी गीता का वास्तविक सदुपदेश प्रारम्भ हुआ है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।
2/7, गीता

अतः प्रपत्ति गीता का आदि भी है और अन्त भी है। यह प्रपत्ति का सिद्धान्त भारतीय शिक्षादर्शन का आधार तथा गीता ज्ञान की भी कुंजी है। इस कुंजिका

से गीता के दिव्यज्ञान की अलौकिक रत्नमंजूषा खुल जाती है, तब हमें ज्ञान की अमर सम्पत्ति मिल जाती है। अर्जुन के प्रपन्न होने के पश्चात् भगवान् अपने प्यारे शरणागत शिष्य पर सब कुछ निछावर करने को उद्यत हो जाते हैं। मानो वे अपना हृदय ही निकालकर अर्जुन को भेंट कर देते हैं।

'गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे शास्त्रमुत्तमम्'—हे अर्जुन! गीता तो मेरा हृदय है, गीता मेरा उत्तम शास्त्र है।

प्रभुप्रपत्ति के निम्नलिखित मंगलमय परिणाम होते हैं—

(क) जीव के व्यक्तिगत अहंकार (अहंता) का लय।

(ख) जीव के व्यक्तिगत स्वामित्व (ममता) का लय।

(ग) जीव की अविद्याजनित मिथ्या तर्क-वितर्क बुद्धि का लोप।

(घ) कचहरी में स्वार्थ से तर्क-वितर्क होता है और भय या हठ से तर्क-वितर्क का लोप प्रपत्ति द्वारा हो जाता है।

(ङ) प्रभु के स्वामित्व में प्रभु की सम्पत्ति का सदुपयोग करने हेतु न्यासी (Trustee) बनने का सुअवसर।

(च) सारा स्वामित्व प्रभु का होने के कारण जीव को मिथ्या व्यक्तिगत स्वामित्व के भार, चिंता एवं कष्ट-क्लेश से मुक्ति।

(छ) जीव में यज्ञ भावना का उदय। अपने से बड़ी इकाई अथवा महान् आदर्श या महान् सत्ता के लिए समर्पण ही यज्ञ भावना है।

(ज) अमर विद्या, ब्रह्मविद्या (गीता ज्ञान) की पात्रता।

(झ) कल्पवृक्ष के समान भगवान् द्वारा संरक्षण एवं मंगल वरदान।

पारिजातः

भगवान् शरणागतों के लिए साक्षात् पारिजात (कल्पवृक्ष) बन जाते हैं। कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर मनुष्य जो कुछ कल्पना करता अथवा संकल्प करता है वह तुरन्त पूरा हो जाता है। भगवान् ऐसे अलौकिक कल्पवृक्ष हैं जो जीव के मंगलकारी संकल्पों को पूरा करते हैं और अमंगलकारी संकल्पों को अपनी कृपा से सत्-संकल्पों में परिवर्तित कर देते हैं। प्रभु की शरणागति के पश्चात् जीव के मन में दुष्ट कल्पनायें उदित ही नहीं होती क्योंकि उसका मन प्रभु को समर्पित होने के पश्चात् ईश्वरीय संकल्प से परिचालित होने लगता है। जो यह विशेषता भगवान् रूपी विश्वचैतन्यमय कल्पवृक्ष में है वह सामान्य स्थावर चैतन्य लुप्त स्वर्ग के पारिजात नामक कल्पवृक्ष में नहीं है। भगवान् शरणागतों की रक्षा करते हैं। उनका मंगल मार्गदर्शन करते हैं तथा उनके योगक्षेम का भी वहन करते हैं।

द्रौपदी के शरणागत होने पर भगवान् ने उसकी लाज बचायी, धर्मात्मा पाण्डवों के रक्षण, मार्गदर्शन एवं विजयशाली युद्ध संचालन हेतु भगवान् ने क्या कुछ नहीं किया। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में अतिथियों के चरण धोए, भोजन की जूठी पत्तलें उठायी, युद्ध में अर्जुन के सारथि बने, घोड़ों की मालिश की। रथ की सफाई की। अपने पीताम्बर में चने भरकर घोड़ों को आहार दिया। अर्जुन के मोहग्रस्त होने पर उसे गीतारूपी अमृत पिलाया। युद्ध में स्वयं निहत्थे रहकर भी सारे युद्ध का संचालन किया। रथ को आवश्यकतानुसार दायें-बायें घुमाते हुए निरन्तर विजय की ओर अग्रसर किया। आने वाली विपत्तियों के प्रति अर्जुन को सचेत किया, होने वाले भीषण आक्रमणों में अर्जुन को प्रत्याक्रमण की युक्ति बताई। भयंकर शस्त्रों के प्रहार पर कभी दायें-बायें वंचना देकर अर्जुन को बचाया। कभी चुटकी का संकेत कर घोड़ों को घुटनों के बल बैठा दिया जिससे भयंकर अस्त्र कृष्ण और अर्जुन के मुकुटों को छेदते हुए ऊपर से निकल गए। कभी भीष्म जैसे इच्छामृत्यु वाले और द्रोणाचार्य जैसे अजेय आचार्य को जीतने की रणनीतियां बताई। कभी भीष्म की एक पाण्डव को मारने की प्रतिज्ञा तुड़वाने हेतु द्रौपदी को ब्राह्ममुहूर्त में भीष्म का अभिवादन करने की युक्ति सिखाई। कभी भीष्म के अर्जुन पर भीषण आक्रमण के समय अपने शरणागत भक्त को बचाने हेतु चाबुक लेकर और रथ का चक्का उठाकर भीष्म की ओर दौड़े। कभी कर्ण की अमोघ शक्ति को निरस्त करने हेतु घटोत्कच को उससे उलझाया और कभी अर्जुन के थके-मांदे एवं असावधान होने पर स्वयं आगे खड़े होकर अपनी छाती पर प्रहार सह लिया और भक्त की रक्षा की। इस प्रकार भगवान् अपने शरणागतों के लिए सचमुच एक कल्पवृक्ष ही बन गए। वाल्मीकि रामायण में भगवान् राम के मुख से भी शरणागतों के लिए अभयदान की अलौकिक घोषणा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।

(युद्ध काण्ड, अष्टादशसर्ग का 33वां श्लोक)

विभीषण की शरणागति के समय भगवान् सुग्रीव आदि सभी उपस्थित जनसमूह को सम्बोधन करते हुए घोषणा करते हैं, 'जो एक बार भी यह कह कर कि हे भगवान्! मैं आपका ही हूं, मेरे शरणागत होकर याचना करता है उसे मैं सब भूतप्राणियों से अभयदान दे देता हूं। यह मेरा पक्का व्रत है।'

भगवान् राम ने शरणागत भरत को अलौकिक प्रेम का दान दिया। शरणागत केवट को हृदय से लगाया, शरणागत निषादराज गुह को प्रेमाश्रुओं से भिगो दिया, शरणागत जटायु को मोक्ष दान दिया, शरणागत सुग्रीव को मैत्री दान दिया, शरणागत हनुमान् को भक्तिदान दिया, शरणागत अंगद को अभय दान, शरणागत

विभीषण को स्वर्णलंका का साम्राज्य दान दिया, शरणागत अहिल्या का उद्धार किया, शरणागत भीलनी का आतिथ्य स्वीकार कर उसे भक्ति का अमृत प्रदान किया। इस प्रकार शरणागत की रक्षा, उसका मार्गदर्शन, मंगल मांगल्य भगवान् का ही उत्तरदायित्व बन जाता है इसलिए कहा गया है—प्रपन्न पारिजाताय।

तोत्त्रवेत्रैकपाणये

भगवान् श्रीकृष्ण अपने एक हाथ में घोड़ों की लगाम एवं चाबुक को थामे हुए हैं। वे एक आदर्श सारथि हैं। वास्तव में हमारे जीवन रूपी रथ के वे ही चालक हैं और वे ही मालिक हैं। पार्थसारथी के रूप में तो वे अपनी भक्तवत्सलता की लीला कर रहे हैं। शरणागत होने पर भगवान् अपने भक्त के भी सेवक बन सकते हैं। यही दर्शाने के लिए अर्जुन के सारथि हैं, किन्तु एक विलक्षण स्थिति पैदा हुई जब मोह के कारण अर्जुन रोने लगा और भगवान् मुस्कराते रहे। लौकिक दृष्टि से देखने पर लगेगा कि रईस (रथी) रो रहा है और साईस (सारथी) मुस्करा रहा है। किन्तु वास्तव में मालिक तो भगवान् ही हैं। अर्जुन को तो निमित्त मात्र ही बताया गया है। सामान्य रूप से महारथी की आज्ञानुसार सारथि रथ हांकता है पर यहां इस दिव्य सारथि की आज्ञानुसार उसके शरणागत होकर महारथी एक महासमर में युद्ध करके विजय लाभ करता है। कठोपनिषद् में आत्मा को रथी और शरीर को रथ, इन्द्रियों को घोड़े, मन को लगाम और बुद्धि को सारथि एवं सांसारिक विषयों को घोड़ों के चरने योग्य घास-पात आदि कहा गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।

इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।

1/3/3-4, कठ. उ.

आत्मारूपी महारथी की आज्ञानुसार बुद्धिरूपी सारथि शरीररूपी रथ का संचालन करे, इन्द्रियरूपी वेगवान और चंचल घोड़ों पर मनरूपी सुदृढ़ लगाम रहे जो बुद्धिरूपी सारथि के हाथ में हो। इन्द्रियरूपी घोड़ों को संयमपूर्वक उचित आहार दिया जाए किन्तु रथ के दौड़ते समय मार्ग में इन्द्रियरूपी घोड़े विषयरूपी हरी घास को दायें-बायें देखकर विचलित न हो जावें इसके लिए घोड़ों की आंखों पर दोनों ओर चमड़े के खोपड़े (शंकु) लगाए जाते हैं। इन्हें काबू में रखने के लिए तथा दिशा संचालन के लिए लगाम कसी जाती है। उन्हें सचेत करने और तेज दौड़ाने हेतु चाबुक प्रयोग में लाया जाता है। तब शरीररूपी रथ ठीक दिशा में लक्ष्य की ओर बढ़ता है।

कठोपनिषद् के इस रथ और गीतोपदेश के रथ में बहुत समानता होते हुए भी एक विलक्षणता यह है कि रथ का वास्तविक मालिक (गुरु) चालक की लीला कर रहा है और अपने एक शरणागत शिष्य को मालिक के सिंहासन पर बैठने का सम्मान दे रहा है।

यदि हम अपने जीवनरूपी रथ की लगाम और चाबुक भगवान् के हाथ में दे दें और अर्जुन के समान शरणागत हो जावें तो वे निश्चय ही हमें इहलोक के संकटों से बचाते हुए रथ को विजय मार्ग की ओर ले जावेंगे और परलोक में भी सब बाधाओं को पार कराते हुए मोक्षधाम तक पहुंचा देंगे।

भगवान् के हाथ में तोत्र (लगाम) एवं वेत्र (चाबुक) का प्रतीकात्मक अर्थ भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। चाबुक गति की प्रतीक है और लगाम संयम की। जीवन में गति (Speed, Velocity) के साथ संयम (Control, Resistance) भी अनिवार्य है। गतिहीन जीवन तो मृतक तुल्य है और भीषण रूप से गतिमान किन्तु संयमहीन जीवन तो सर्वनाश का आह्वान है। यदि गाड़ी में प्रचण्ड गति है और गति को संयमित करने के लिए ब्रेक है ही नहीं तो गाड़ी के चालक, मालिक और यात्री किसी भीषण दुर्घटना की ओर वेगपूर्वक बढ़ते जा रहे हैं। आज विज्ञान ने मानव को गति बहुत अधिक दे दी है जिसके कारण उसके विमान, रॉकेट बहुत तीव्र गति से दौड़ने लगे हैं। विज्ञान ने दूरी पर, काल पर, ध्वनि पर, विद्युत् पर, ताप एवं शीत पर भी विजय पाने का प्रयास किया है। इससे मानव की गति बढ़ गई है। भौतिकवाद ने जीवन के सुख-साधनों के प्रलोभन बढ़ाकर, मनुष्य की इच्छाओं को भड़काकर मनुष्य के मन एवं इन्द्रिय को चंचल वेगवान घोड़ों के समान घुड़दौड़ की स्पर्धा में दौड़ा दिया है, किन्तु विज्ञान एवं भौतिकवाद के पास मन की घुड़दौड़ और यानों की उड़ान पर संयम करने अथवा अंकुश लगाने के लिए पर्याप्त युक्ति नहीं है। केवल अध्यात्म ही वह संयम प्रदान करता है जिसके द्वारा गति को वश में करके आवश्यकतानुसार दिशा-दर्शन एवं भोग पर नियंत्रण करके उसे मानव जीवन के लिए मंगलकारी बनाया जा सकता है। सतलुज नदी का जो जल प्रतिवर्ष पंजाब के बहुत बड़े भू-भाग को बाढ़ से ध्वस्त कर देता था उसी की निर्बाध गति को जब भाखड़ा बांध द्वारा संयमित किया गया और जल की शक्ति को आवश्यकतानुसार दिशा-दर्शन एवं नियंत्रण देकर विद्युत् ऊर्जा का उत्पादन किया गया तो भाखड़ा की नहरों का जल एवं उसकी विद्युत् ऊर्जा का बल पंजाब, दिल्ली, राजस्थान राज्य के लिए एक अमूल्य वरदान बन गया। अतः जीवन में गति एवं संयम, दोनों का सुन्दर समन्वय चाहिए। भगवान् के हाथ में तोत्र एवं वेत्र इसी समन्वय के प्रतीक हैं।

ज्ञानमुद्राय:

परमेश्वर ज्ञानस्वरूप, ज्योतिस्वरूप, प्रकाशस्वरूप है। भगवान् का अर्थ ही तेजवान, प्रकाशवान एवं ज्ञानवान है। वेद में 'प्रज्ञानं ब्रह्म' तथा 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं

ब्रह्म' द्वारा सत्य और अनन्त को ब्रह्म कहा गया है। गीता में भी भगवान् कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। 4/38, गीता

अर्थात् ज्ञान के समान पवित्र तत्त्व सारे विश्व ब्रह्माण्ड में कोई दूसरा नहीं है। भगवान् अर्जुन को आश्वासन देते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। 4/36, गीता

हे अर्जुन! यदि तू सब पापियों से भी अधिक बड़ा पापी हो तब भी तू ज्ञान-रूपी नौका द्वारा निःसंदेह समस्त पापों से तर जाएगा।

वेदान्त मत में सब प्रकार के पाप वास्तव में अज्ञानजनित भूल ही हैं। ज्ञान के प्रकाश से भूल दूर होते ही जीव निष्पाप हो जाता है। जन्म-जन्मान्तर के समस्त पाप ज्ञानरश्मि के स्पर्श से ही लव (क्षण) मात्र में लुप्त हो जाते हैं।

ईसाई मत एक मौलिक पाप (Original sin) की कल्पना करता है। उनके अनुसार आदम ने ईश्वर के मना करने पर भी जो स्वर्ग का फल खा लिया वही मौलिक पाप है जो आज तक समूची मानव जाति को पापी बनाये हुए है। वे यह अंधविश्वास रखते हैं कि मनुष्य चाहे कितने भी पवित्र कर्म करे वह तब तक पाप-मुक्त होकर स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकता जब तक वह ईसा को अपना व्यक्तिगत मुक्तिदाता नहीं मानता। इसकी तुलना में भारतीय दर्शन का मत है कि प्रत्येक जीव अपने वास्तविक स्वरूप में पवित्र एवं निष्पाप है। उसमें मौलिक पाप के स्थान पर मौलिक दिव्यता है। सृष्टि पाप के बीज से पैदा नहीं हुई, वह सच्चिदानन्दघन से ही प्रकट हुई है। प्रत्येक पाप वास्तव में एक भूल है, जो ईश्वरीय ज्ञान के प्रकट होते ही लुप्त हो जाता है। जैसे रात्रि के घने काले अंधेरे को जो करोड़ों योजन दूरी तक फैला हुआ है उसे न झाड़ू बुहारी से हटाया जा सकता है, न तलवार से काटा जा सकता है, न तोपों से उड़ाया जा सकता है, न ही किसी अन्य उपाय से। किन्तु सूर्य के प्रकाश की प्रथम किरण के स्पर्श मात्र से ही वह करोड़ों योजन तक फैला हुआ भयानक काला अंधेरा लव (क्षण) मात्र में ऐसा लुप्त हो जाता है कि उसका कोई चिह्न मात्र भी नहीं बचता। इसी प्रकार ज्ञानरूपी सूर्य की एक हलकी-सी किरण छू जाने से ही समस्त पाप लुप्त हो जाता है। पाप मानव जीवन का मौलिक अंग नहीं है जैसा कि ईसाइयत मानती है। पाप मानव पर आरोपित है, अतः वह उससे अलग हो सकता है। यदि पाप जीवन का मौलिक अंग होता तो रत्नाकर डाकू कभी निष्पाप महर्षि वाल्मीकि न बन पाता और अपनी पत्नी के काम में अंधा नवयुवक गोस्वामी तुलसीदास न बन पाता। मद्य, मांस, मदिरा का प्रयोग

करने वाला एक बिगड़ा हुआ बनिये का बच्चा (गांधी) महात्मा न बन पाता। वास्तव में मन के बदलने से मानव बदल जाता है। यह हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया भारतीय दर्शन की अमूल्य देन है।

जिस ज्ञान के चमत्कार से हृदय परिवर्तन रूपी परिष्कार होता है वह ज्ञान ब्रह्म का गुण मात्र ही न होकर साक्षात् ब्रह्म ही है। भगवान् कृष्ण स्वयं मूर्तिमान ज्ञान हैं, वे ज्योति पुरुष हैं, वे ज्ञान के अवतार, दिव्य ज्ञानवपु हैं। उनके श्रीमुख से जो गीताज्ञान निःसृत हुआ वह भी समस्त वेद-वेदांग का सार, उपनिषदों का नवनीत तथा ब्रह्मज्ञान की पराकाष्ठा है। वह साक्षात् श्रीकृष्ण का हृदय ही है। मानो ज्ञानरूप ब्रह्म का हृदय ही पिघल कर गीतारूपी गीत के रूप में तरंगायमान हो उठा हो।

ज्ञानोपदेश करते समय गुरु की मुख मुद्रा एवं हस्त मुद्रा दोनों उसके अन्तर्ज्ञान की प्रतीक होती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण रथ में सारथि के आसन पर विराजमान तनिक मुड़ कर अर्जुन की ओर देख रहे हैं। उनके नेत्र ज्ञान के समाधान से प्रकाशित हैं। उनके मुखमण्डल पर अपार शान्ति विराजमान है। वे ब्राह्मी स्थिति में हैं, वे सारथि के साधारण कर्तव्य से बहुत ऊंचे उठकर एक जगत्गुरु के उच्च आसन पर स्थित हो गए हैं, उनके मुखारविंद से ब्रह्मविद्या योगशास्त्र से समन्वित होकर एक मधुर गीतिका बनकर प्रस्फुटित हो रही है। उनका यह गीतोपदेश का दर्शन ही समस्त गीताज्ञान का सार है। जिसने गीतोपदेष्टा श्रीकृष्ण के इस स्वरूप का ध्यान कर लिया उसे गीता का मर्म सहज सुलभ हो गया। बीज में वृक्ष निहित है। कृष्ण के स्वरूप में उनका समस्त ज्ञान निहित है।

गुरु की मुख मुद्रा के साथ उसकी हस्त मुद्रा का भी महत्त्व है। भारत में पूजा एवं कर्मकाण्ड के लिए अनेक प्रकार की हस्त मुद्रायें प्रचलित हैं। जैसे कमल मुद्रा, घण्टिका मुद्रा, पुष्पांजलि मुद्रा, नमस्कार मुद्रा आदि-आदि। मूर्तिकला में भी अनेक मुद्राओं का प्रयोग होता है जैसे भूमि स्पर्श मुद्रा, संकल्प मुद्रा, आशीर्वाद मुद्रा, अभय मुद्रा, ध्यान मुद्रा, देशना मुद्रा और ज्ञान मुद्रा। ज्ञान मुद्रा में गुरु अपने अंगुष्ठ को तर्जनी अंगुली से स्पर्श करता है। इस प्रकार शेष तीनों अंगुलियां तर्जनी से अलग हो जाती है। तर्जनी उंगली जीव का प्रतीक है। अंगुष्ठ ब्रह्म का प्रतीक है। शेष तीन उंगलियां सत्त्व, रज, तम (तीन गुणों) की प्रतीक हैं। तर्जनी उंगली जो प्रायः तीन गुणों की प्रतीक तीन उंगलियों के सम्पर्क में रहती है वह जब तीनों से पृथक् होकर अंगुष्ठ रूपी ब्रह्म से जुड़ जाती है तब इसे ज्ञान मुद्रा या चिन्मुद्रा कहा जाता है। ब्रह्मज्ञान का उपदेश ज्ञान-मुद्रा में किया जाता है। इसलिए भगवान् की बाह्य स्थिति, उनकी मुख मुद्रा एवं हस्त मुद्रा सभी कुछ उन ज्ञानवपु की ज्ञान मुद्रा की परिचायक हैं।

भगवान् कृष्ण षोडश कला सम्पूर्ण साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर ही हैं। कृष्ण का अर्थ है सबको अपनी ओर आकृष्ट करने वाला। अतः वे सबके आकर्षण के केन्द्र हैं। शैशव में वे बाल लीलाओं के कारण ब्रज के गोप-गोपियों के आकर्षण बिन्दु बने। बालपने में वे कंस के द्वेष के कारण उसके द्वेष के लक्ष्य बने। महाभारत के महासमर में वे जहां पाण्डवों के आकर्षण बिन्दु थे वहां वे कौरव सेनापति भीष्म पितामह आदि के भी इष्टदेव थे। युद्ध के प्रारम्भ में जहां अर्जुन उनसे सहायता मांगने आया था वहां दुर्योधन भी उन्हीं से सहायता की याचना करने पहुंचा था। अतः वे उदात्त सद्गुणों के कारण सभी के आकर्षण बिन्दु थे। ऐसा दिव्य पुरुष, गुरु अथवा जगद्गुरु बनने के योग्य होता है। इसीलिए वे गुरुरूप हमें ज्ञान मुद्रा में गीतोपदेश दे रहे हैं।

गीतामृतदुहे नमः

भगवान् श्रीकृष्ण गीतारूपी अमृत को दुहने वाले हैं। अमृत का वास्तविक अर्थ है जीव को मरण से मुक्ति अथवा मोक्षपद प्राप्ति। किन्तु भाषा एवं साहित्य में लोग जीवन को अधिक लम्बा करने वाले पदार्थ को भी अमृत की उपमा दे देते हैं जैसे अमृतं क्षीरभोजनम् (अर्थात् दूध का भोजन अमृत है)। इसी प्रकार घृतामृत, पंचामृत, चरणामृत, यज्ञामृत, अमृतफल आंवला, अमृता नामक जड़ी बूटी, अमर बेल आदि में अमृत एवं अमर शब्द जीवन को लम्बा करने के गुण के वाचक हैं न कि जीवन को शाश्वत बनाने के वाचक। देवताओं एवं असुरों ने मिलकर जो समुद्र मंथन कर अमृत निकाला और जिसे देवताओं ने पान किया वह भी अधिक लम्बे काल तक स्वर्ग के सुख भोगने में सहायक मात्र है। जीव को सदा के लिए अमर शाश्वत जीवन दिलाने वाला नहीं। गीता के नवम अध्याय में भगवान् कहते हैं—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।
9/21, गीता

'वे (देवता) उस विशाल स्वर्गलोक को भोगने के पश्चात् पुण्य क्षीण हो जाने पर पुनः इस मर्त्यलोक में आते हैं। इस प्रकार वेदों में वर्णित सकाम यज्ञों को करने वाले लोग इस आवागमन के चक्र में घूमते रहते हैं।' इससे सिद्ध होता है कि देवता अमृत पीकर भी सच्चे अर्थ में मुक्त अथवा शाश्वत नहीं बन सके। इसकी तुलना में गीता का ज्ञानामृत सच्चे अर्थ में अमृत है क्योंकि इस ब्रह्मज्ञान से जीव मुक्त होकर ब्रह्मरूप हो जाते हैं।

गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।

'गीतारूपी गंगाजल के पान से मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता।'

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। 8/16, गीता

भूलोक से ब्रह्मा के लोक तक जितने लोक हैं सभी पुनरावर्ती हैं। पर मेरी शरण में आने के बाद जीव का पुनर्जन्म नहीं होता।

यह गीतारूपी अमृत जो वास्तव में भगवान् के हृदय का ज्ञानामृत है वह एक दृष्टिकोण से उपनिषद् रूपी गायों के दोहन से भी प्रकट हुआ है। उपनिषद् ब्रह्मविद्या का ही नाम है। उपनिषदें प्रारम्भ में मौखिक विद्या रूप ही थीं। बहुत बाद में पुस्तक रूप में लिखी गईं। विद्या एक ज्ञान की ज्योति है जो न कागज में है, न कलम में, न अक्षरों में, न ग्रंथों में, न वाणी में और न प्रश्नोत्तर-वार्तालाप में। वह तो ब्रह्मविद्या है जिनको इन माध्यमों से यदा कदा सीमित मात्रा में प्रकट करने का प्रयास किया जाता है। वास्तविक वेदान्त विद्या या उपनिषद् विद्या ब्रह्मवेत्ता के अन्तर का प्रकाश है और वाणी, अक्षर तथा ग्रंथ केवल उसके बहिरंग संकेत हैं।

सभी उपनिषदें जंगल की कठिन गायों के समान हैं जो किसी साधारण व्यक्ति के द्वारा न वश में की जा सकती हैं और न दोहन की जा सकती हैं। जंगली गायें पालतू गायों की अपेक्षा बहुत अधिक बलशाली एवं दुर्दान्त होती हैं। वे जंगल में पैने सींगों से शेर तक का पेट फाड़ सकती हैं। उन्हें नियंत्रित कर उनका दूध दुह लेना बड़ा कठिन कार्य है। उपनिषद् ब्रह्मविद्या के बड़े दुरूह एवं कठिन आख्यान हैं। ब्रह्मविद्या के मर्म को समझना किसी सामान्य दार्शनिक के वश की बात नहीं है। किन्तु भगवान् कृष्ण एक दिव्य गोपाल हैं जिन्होंने उपनिषद् की कठिन गैया को भी वश में कर अपने प्रिय सखा अर्जुन को गोवत्स बनाकर उसके निमित्त से संसार के सभी सुधीजनों के दुग्धपान (मार्गदर्शन) के लिए गीतारूपी दुग्धामृत का दोहन कर उसे भाषा के रत्नजड़ित प्याले में परोस कर और उसमें काव्य का केसर और संगीत की तान मिलाकर विश्व मानवता के उपभोग के लिए प्रस्तुत किया।

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।।

'स्वयं भगवान् ने अपने मुखारविंद से पार्थ के प्रति जो गीता सुनाई, पुराणमुनि वेदव्यास ने महाभारत के मध्य में जिसे बड़ी सुन्दरता से सजाया, महाभारत के 18 पर्वों के बीचोबीच गीतारूपी ज्ञान इस प्रकार सजा हुआ है मानो वह समूची

महाभारत का सार अथवा महाभारतरूपी 18 पखुंड़ियों वाले विशाल कमल के केन्द्र में स्थित उसका मधुकोश अथवा पावन पराग है, जो भगवद्गीता स्वयं 18 अध्याय वाली है, जो अद्वैतरूपी अमृत की वर्षा करने वाली है उस भगवती-भवतारिणी का मैं ध्यान करता हूं।'

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदीकैवतर्कः केशवः।।

'महाभारत की भीषण रणनदी जिसके बड़े विशाल एवं सुदृढ़ तट भीष्म पितामह जैसे इच्छामृत्यु महापुरुष एवं द्रोणाचार्य जैसे अजेय शस्त्र-शास्त्री हैं, जिस रणनदी में जयद्रथ जैसे (अभिमन्यु की हत्या करने वाले) भयंकर योद्धा जलरूप से प्रवाहित हो रहे हैं, जिस नदी में गांधार निवासी गांधारी के भाई कौरवों के मामा छली शकुनि जैसे नीले कमल फैले हुए थे (नीले सुन्दर कमलों को देखकर मनुष्य मुग्ध हो जाता है और नीचे के गहरे भयंकर जल के प्रति असावधान हो जाता है, कमल के लोभ में आगे बढ़ते ही डूब जाता है।), जिसमें शल्य जैसे बड़े-बड़े घोर घड़ियाल तैर रहे हैं, जिसमें गुरु कृपाचार्य (द्रोणाचार्य के साला) जैसे जल की प्रबल धार बनकर प्रवाहित हो रहे हैं (जिस प्रकार प्रबल जलधार के थपेड़े यात्री या नौका को बार-बार पीछे धकेल देते हैं, उसी प्रकार कृपाचार्य अपने आक्रमण से पाण्डवों की सेना को बार-बार पीछे धकेल देता है) जिस रणनदी में सूर्यपुत्र कर्ण एक भीषण तूफान की तरह प्रवाहित हो रहा था, जिस रणनदी में भयंकर बदले की भावना से पाण्डवों के पुत्रों एवं सेनानियों को धोखे से रात के समय मार डालने वाले अश्वत्थामा और विकर्ण जैसे भयंकर मगरमच्छ तैर रहे थे, जिसमें धन-सत्ता, पद के लोभी और दुष्टता एवं धोखे के सदेह स्वरूप दुर्योधन जैसे भंवर उठ रहे थे वह महाभारत की भयंकरतम रणनदी भी पाण्डव लोग इसी कारण पार कर सके क्योंकि उनके केवट (मल्लाह) स्वयं भगवान् कृष्ण थे।'

पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं।
नानाख्यानककेसरं हरिकथासंबोधनाबोधितम्।।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा।
भूयाद् भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे।।

'कलिमल का नाश करने वाला महाभारत रूपी महान् कमल जो पराशर ऋषि के पुत्र वेदव्यास के पवित्र वचनरूपी सरोवर से प्रकट हुआ, जिसमें गीता

ज्ञान जैसी श्रेष्ठ मीठी सुगन्धि भरी है, जिसमें नाना प्रकार के आख्यानकों का केशर है, जिसमें अनेक हरिकथाओं के सम्बोधन है, लोक में सज्जनरूपी भ्रमर प्रतिदिन जिसका प्रसन्नतापूर्वक रसपान करते हैं, वह हमारा कल्याण करे।'

श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्—

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः।।

'इस पुण्यमयी गीताशास्त्र का जो पुरुष प्रतिदिन पवित्र होकर अध्ययन करता है वह भय, शोकादि से मुक्त होकर विष्णुपद को प्राप्त करता है।

जीव, ईश्वर और ब्रह्म का अन्तर क्या है? जो माया (प्रकृति) के वश में है वह जीव है, माया (प्रकृति) जिसके वश में है वह ईश्वर है और जो माया (प्रकृति) से नितान्त परे है वह ब्रह्म है। ब्रह्म के सृष्टिकर्ता रूप को ब्रह्मा, पालनकर्ता रूप को विष्णु और संहारकर्ता रूप को शिव कहा जाता है। तत्त्वतः इन तीनों में कोई भेद नहीं है। अतः विष्णु शब्द कहीं ईश्वरवाचक और कहीं ब्रह्मवाचक अर्थ में प्रयोग होता है। कठोपनिषद् में '**तद् विष्णोः परमं पदम्**' इस मंत्र में विष्णु के परमपद को ही परब्रह्म या मोक्ष कहा गया है।

जीव भय और शोक से ग्रस्त रहता है। यदि वह इनसे मुक्त हो जाए तो साक्षात् विष्णु पद को प्राप्त कर ले। जीव का मोह ही उसके भय एवं शोकादि का कारण होता है। मोह का अर्थ मूर्च्छित हो जाना। किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अज्ञानजनित आकर्षण को ही मोह कहते हैं। इसमें बुद्धि मूर्च्छित हो जाती है, विवेक लुप्त हो जाता है और जीव जिन वस्तुओं, घटनाओं या व्यक्तियों से भय अथवा शोक नहीं होना चाहिए उन्हीं से भयभीत होने लगता है और उनका शोक करने लगता है। उदाहरणार्थ—अपने नित्य पहनने वाले कोट से भय का कोई कारण नहीं पर अंधेरे में उसे ही भूत समझ कर डरने लगता है। धुंधले प्रकाश में, अंधेरे में उसकी नींद खुलने पर भयभीत हो जाता है, पर प्रकाश होने पर भय समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञान के होते ही मोह लुप्त हो जाता है और भय से मुक्त हो जाता है। नश्वर वस्तुओं, क्षणभंगुर शरीरों और परिवर्तनशील घटनाओं के ठीक स्वरूप को न जानने के कारण उनके प्रति मोह हो जाता है। उनके छिन जाने या नष्ट हो जाने की आशंका से उसके नाश से पहले ही भय होने लगता है और उनके छिन जाने के पश्चात् जीव शोक करने लगता है।

उदाहरण—एक धनी साहूकार धन के प्रति मोह के कारण चिंतित एवं भयभीत रहता है कि हाय! धन लुट न जाए और धन के लुट जाने पर शोक में छाती पीटने लगता है। पहले भय, बाद में शोक। इसी प्रकार मोहग्रस्त माता चिंता

करती रहती है कि कहीं मेरे बच्चे पर संकट न आ जाए और नश्वर शरीर के चले जाने पर शोक में डूब जाती है।

इस भय, शोक, मोह का कारण अज्ञान है जो स्वयं के वास्तविक स्वरूप को भुला देने से, गलत मैं और मेरा को अपना समझ लेते हैं, पर जो गीता की शरण में जाते हैं, उस पर नित्य मनन, चिंतन एवं निदिध्यासन करते हैं उन्हें अपने वास्तविक तात्त्विक स्वरूप का बोध होने लगता है। तब वे भय, शोक, मोह से मुक्त होकर आत्मपद को, विष्णु पद को प्राप्त कर लेते हैं।

इस ऐहिक जगत् में अथवा आध्यात्मिक जगत् में भय ही पतन तथा पाप का कारण है। भय से ही दुःख होता है, यही मृत्यु का कारण है तथा इसी के कारण सारी बुराई होती है।

मानव जाति के समग्र इतिहास में सभी महान् स्त्री-पुरुषों में यदि कोई महान् प्रेरणा सबसे अधिक सशक्त रही है तो वह है यही आत्मविश्वास। वे इस ज्ञान के साथ पैदा हुए थे कि वे महान् बनेंगे और वे महान् बने भी।

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधता अर्थात् उठो! जागो! तथा लक्ष्य प्राप्ति होने तक रुको मत।

—स्वामी विवेकानन्द

× × ×

श्लेगल ने पाया कि भारत सार्वभौम धर्म का आवास है। सर्वाधिक सुसंस्कृत मानव जाति का पालना है। जे.सी. हर्डर ने प्रश्न किया 'यूरोप के लोग आए कहां से?' और स्वयं उत्तर दिया— 'एशिया से'। शॉपेनहावर का विचार था कि भारत मानव जाति की पितृभूमि है और उन्होंने आशा व्यक्त की कि एशिया से उद्भूत यूरोपीय जन फिर से अपने मूल घर के धर्मों को अपनाएंगे।

भक्तियोग

भक्ति का शाब्दिक अर्थ, व्याख्या एवं परिभाषा

भक्ति शब्द भज धातु से बना है जिसका अर्थ है सेवा। भज सेवायाम्। आजकल भज का रूढार्थ सेवा न होकर भजन-कीर्तन माना है। जिसका यश गाया जाए उसकी सेवा करना भी स्वाभाविक है। किन्तु आजकल भजन या स्तुतिगान को मात्र शाब्दिक स्तुतिगान के अर्थ में लिया जाता है जिसमें सेवा का भाव नहीं बचता। ऐसे मौखिक स्तुतिगान से भज (सेवा) बिल्कुल भिन्न है। यदि एक पुत्र पिता की भरपूर सेवा करे और दूसरा मात्र शाब्दिक स्तुतिगान करता रहे तो निश्चय ही सेवा करने वाले की भक्ति सार्थक होगी और मौखिक स्तुतिगान मात्र करके पिता की उपेक्षा करने वाला व्यक्ति घृणा एवं तिरस्कार का पात्र होगा। अतः भक्ति अपने मूल अर्थ में सेवा भावना एवं सेवा करना ही है। चाहे ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग तीन स्वतंत्र मार्ग हैं किन्तु गीता में भगवान् ने दो प्रकार की निष्ठा का वर्णन किया है। सांख्य निष्ठा अर्थात् ज्ञानयोग निष्ठा और योग निष्ठा अर्थात् कर्मयोग निष्ठा। उन्होंने भक्ति की निष्ठा की चर्चा नहीं की क्योंकि भक्ति मूलतः सेवा कर्म होने के कारण कर्मयोग निष्ठा के अन्तर्गत ही आ जाती है।

सेवा प्रेम से की जा सकती है या किसी प्राप्ति के लोभ-लाभ के लिए। माता पुत्र की या पत्नी पति की सेवा प्रेम के कारण करती है। किन्तु अस्पताल में एक नर्स जो रोगी की सेवा करती है वह वेतन प्राप्ति के लिए करती है। पत्नी की पतिसेवा भक्ति कही जा सकती है किन्तु नर्स द्वारा रोगी की सेवा भक्ति नहीं हो सकती है।

नारदजी ने अपने भक्ति सूत्र में लिखा है, 'भक्ति परम प्रेम स्वरूपा' अर्थात् भक्ति परम प्रेम स्वरूप वाली है। वासना और प्रेम में उतना ही अन्तर है जितना काच और काञ्चन में। वासना शारीरिक, मांसल भोगेच्छा मात्र है किन्तु प्रेम दो प्राणियों के बीच निष्काम और निःस्वार्थ आकर्षण है।

फिर संसार के जितने रिश्ते-नाते हैं उनमें व्याप्त प्रेम सीमित एवं कालबाधित प्रेम है। अविनश्वर प्रेम या परम प्रेम नहीं। यदि एक नश्वर प्रेमी किसी नश्वर प्रेमिका से प्रेम करता है तो प्रेम का कर्ता और प्रेम का पात्र नश्वर होने के कारण

उनके बीच का प्रेम भी नश्वर ही होगा, परम प्रेम नहीं। परम प्रेम केवल परम तत्त्व से ही हो सकता है किसी नश्वर वस्तु से नहीं। अतः सच्ची भक्ति परमेश्वर से ही हो सकती है अन्य किसी से नहीं। मातृ-पितृ व गुरुभक्ति, समाज भक्ति, देशभक्ति, सिद्धान्त भक्ति आदि ईश्वर भक्ति की ही क्रमिक सीढ़ियां हैं।

भक्ति की महत्ता को न जानते हुए कई भोगवादी (भौतिकवादी नास्तिक) एवं कुतर्की लोग भक्ति को मात्र भावुकता, मानसिक पराधीनता, अकर्मण्यता एवं एक प्रकार का मानसिक रोग या पागलपन कहने लगते हैं। वास्तव में भक्ति इतना महत्त्वपूर्ण तत्त्व है कि यदि मानव के कार्यकलाप में से भक्ति को शेष कर दिया जाए तो उसके सारे कार्य पागलपन या जड़ यंत्र की क्रिया मात्र बन जाएंगे। यदि भगवान् राम के जीवन में से मातृप्रेम, पितृप्रेम, गुरु भक्ति निकाल दी जाए तो उनके जीवन का मूल्य फिर क्या बचता है? यदि भगवान् कृष्ण के जीवन से निष्काम कर्मयोग की निष्ठा निकाल दी जाए तो उनके जीवन का महत्त्व न्यूनतम हो जाए। यदि राणा प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्द सिंह, बंदा वैरागी के जीवन से देशभक्ति निकाल ली जाए तो वे महापुरुष के स्थान पर महापागल और बलिदानी वीर के स्थान पर आत्म हत्यारे माने जाएंगे। भक्ति या श्रद्धा ही वह जीवनमूल्य है जिस पर जीवन रूपी भवन टिका हुआ है। श्रद्धा ही मानवीय जीवन का आधार है। जिसकी श्रद्धा उजड़ गई उसका जीवन ही डगमगा गया। आधार के बिना आधेय टिक ही नहीं सकता। इसलिए भगवान् ने गीता में कहा है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः। 17/3, गीता

वह श्रद्धा का स्वरूप है। जैसी जिसकी श्रद्धा है वैसा ही वह मानव है। मानव का बहिरंग तो मात्र नश्वर आवरण है उसके भीतर उसकी श्रद्धा गुम्फित है जो कि वास्तविक मानव है। बुद्ध का शरीर हजारों वर्ष पहले मृत हो चुका है किन्तु उसकी श्रद्धा अभी तक अमर है। राम से लेकर रमण महर्षि तक जितने महापुरुषों को हम पूज्य मानते हैं उनके शरीर कभी के नष्ट हो चुके हैं। हम उनकी अमर श्रद्धा की ही पूजा करते हैं। महापुरुष का शरीर मृत पुरुष है परन्तु उसकी श्रद्धा अमर पुरुष है। इसलिए राम की श्रद्धा वास्तविक राम है, कृष्ण की श्रद्धा वास्तविक कृष्ण है, दधीचि की श्रद्धा वास्तविक दधीचि तथा गांधी की श्रद्धा वास्तविक गांधी है। इस प्रकार भक्ति पागलपन नहीं है। बल्कि भक्तिहीन पुरुष निरुद्देश्य पागल के समान संसार में भटक रहा है।

भक्ति को पराधीनता कहना भी भक्ति का अपमान है। पराधीनता में मानव मन की परवशता एवं असाध्य दुःख होता है। किन्तु भक्ति परवशता से हो ही नहीं सकती। यह तो हृदय की पवित्रता, सात्त्विक स्वेच्छा से ही हो सकती है। हां, भक्त स्वेच्छाचारी नहीं होता। वह अपनी व्यक्तिगत तुच्छ भोगेच्छाओं को

परमेश्वर के चरणों में समर्पित कर देता है। और परमेश्वर की इच्छा ही खुद की इच्छा बन जाती है। इस प्रकार वह तुच्छ अहम् की गुलामी से मुक्त होकर महान् एवं अमर अहम् की इच्छानुसार चलने लगता है। यदि मेरा झूठा अहम् अपनी झूठी एवं नश्वर इच्छाएं पूरी न कर सके और मेरा सच्चा अहं अपनी सब इच्छाओं को पूर्तिलाभ कर पूर्णकाम आप्तकाम हो जाए तो इससे बढ़कर स्वाधीनता क्या हो सकती है।

भक्ति अकर्मण्यता भी नहीं है। क्योंकि भक्ति का शाब्दिक अर्थ ही सेवा है और सेवा सबसे कठिन तपस्यापूर्ण कर्म है।

सेवाधर्मो परम गहनो योगिनामप्यगम्यः

हां, कुछ भक्तनामधारी ढोंगी लोग केवल भजन, भोजन एवं गांजा-भांग-चरस तक अपना सारा क्रियाकलाप सीमित रखते हैं और नर नारायण की सेवा नहीं करते। किन्तु उन्हें भक्त कहना भी उचित नहीं है। भक्ति अकर्मण्यता नहीं सिखाती वरन् बड़े से बड़े कर्म के लिए अमर प्रेरणा प्रदान करती है। तिलक, गांधी, सुभाष, सावरकर आदि ने देश के लिए जो-जो कठिन तपस्या कर्म किये हैं वे बिना देशभक्ति के असम्भव ही थे।

ज्ञान-भक्ति-कर्म

वैसे तो ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग मानव मन की प्रवृत्तियों के अनुसार ईश्वरप्राप्ति के तीन समान रूप से उपयोगी मार्ग माने जाते हैं। किन्तु, वस्तुतः ये तीनों मार्ग एक-दूसरे से इतने गुंथे हुए एवं परस्परावलम्बी हैं कि एक के बिना दूसरे का काम चल ही नहीं सकता। इसलिए गीता में ज्ञानभक्तिकर्मसमुच्चय का संदेश है। बिना ज्ञान के कर्म विकर्म, दुष्कर्म या अनर्गल कर्म बन जाता है। बिना कर्म के ज्ञान मात्र वाग्विलास रह जाता है। बिना कर्म के भक्ति अकर्मण्यता एवं मिथ्याडम्बर मात्र रह जाती है। किन्तु भक्ति तत्त्व के बिना ज्ञानयोग, कर्मयोग, राजयोग तीनों मृतप्राय हो जाते हैं। बिना भक्ति के ज्ञान रूखा तर्कजाल एवं शुष्क खोपड़ी का खेल मात्र ही रह जाता है। बिना भक्ति के कर्म मात्र जड़ यंत्र की क्रिया बन जाती है। शंकर की पिण्डी पर जलधारा चढ़ाते समय यदि मन की भक्तिभाव धारा साथ नहीं चढ़ी तो वह यंत्रवत कर्म केवल आडम्बर ही है। बिना भक्ति के राजयोग भी सिद्ध नहीं होता। यदि कोई नास्तिक ध्यान समाधि लगाता है तो या उसकी नास्तिकता नहीं बचेगी या फिर समाधि झूठी है। बिना ईश्वर में निष्ठा के योगसूत्रों का करतब (जो आजकल पश्चिम में चल रहा है) मात्र जिमनास्टिक का खेल है। उससे परमेश्वर के साथ योग नहीं हो सकता है इस प्रकार भक्ति चारों योगों में पिरोया हुआ स्वर्णसूत्र है। इसके बिना ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग कोई भी नहीं टिक सकते।

भक्ति की साहित्यिक प्रणालियां

हिन्दी साहित्य के इतिहास में मध्यकाल में भारत में मुस्लिम शासन के समय अत्याचारों की आंधी में समाज को हताशा-निराशा और मानसिक पराधीनता से बचाने के लिए भक्तिकाल का उदय हुआ। इसमें भक्ति की निम्नलिखित प्रणालियां साहित्य के माध्यम से प्रकट हुई—

(क) **ज्ञानाश्रयी भक्तिधारा—**भगवान् शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त को अपना दार्शनिक आधार बनाकर भक्ति का प्रचार करने वाली यह धारा नानक, कबीर, दादू, रविदास के साहित्य में तरंगित हुई एवं आज तक महर्षि मैं ही परमहंस के सन्त साहित्य में तरंगायमान हो रही है। इस धारा को लोग निर्गुण भक्ति धारा भी कहते हैं। भगवान् शंकराचार्य ने भक्ति की ज्ञानपरक व्याख्या करते हुए लिखा है—

'स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते'

अर्थात् अपने सच्चे स्वरूप का अनुसंधान करना ही भक्ति कहलाता है। कबीर का वचन है—

तेरा सांई तुझ्झ में ज्यों पुहुपन में वास।
कस्तूरी का मृग ज्यों वन-वन ढूंढे घास।।

ज्यों तिल मांहि तेल है ज्यों चकमक में आगि।
तेरा सांई तुझ्झ में, जाग सके तो जागि।।

गुरुनानक की वाणी है—

आतम महि राम राम महि आतम
चीतसि गुरु विचारा

गुरु तेग बहादुर की वाणी है—

काहे रे वन खोजन जाई।
सर्व निवासी सदा अलेपा।
तोहि संग समाई।।

(ख) **प्रेमाश्रयी भक्तिधारा—**प्रेमाश्रयी भक्ति के लिए भक्त और भगवान् दो अलग-अलग सत्ताओं की आवश्यकता होती है। शंकराचार्य के बाद आचार्य रामानुजाचार्य ने वेदान्त के ब्रह्मसूत्रों पर अपना विशिष्टाद्वैत भाष्य लिखा जिसमें उन्होंने अद्वैत ब्रह्म के विशिष्ट गुणों से विभूषित होकर निर्गुण-निराकार से सगुण साकार (अवतार) होने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार दूध से दही बन जाने पर दही दूध का विकार होते हुए भी पुनः दूध नहीं बन सकता,

उसी प्रकार जीव ईश्वर का अंश एवं ईश्वर से पैदा होते हुए भी वह पुनः ब्रह्म नहीं बन सकता। वह भक्ति (उपासना) द्वारा परमेश्वर के निकट आसन प्राप्त कर सकता है। ईश्वर का दर्शन प्राप्त कर सकता है। ईश्वर प्राप्ति का महानानन्द पा सकता है।

इस प्रकार रामानुजाचार्य ने वेदान्त दर्शन में ही भक्ति का स्थान बनाया। उन्हीं रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में 16वीं शताब्दी में रामानन्द हुए। वे मूलतः दक्षिण भारतीय परिवार के ही थे किन्तु काशी कर्मक्षेत्र बन गया। वे कबीर, रविदास, गुरुनानक के सत्संगी एवं गोस्वामी तुलसीदास के महान् प्रेरक बने। तुलसी ने राम-भक्ति की ऐसी अलौकिक धारा बहायी जिससे सारा भारतीय समाज और साहित्य जाने-अनजाने राममय हो गया है। इस प्रकार कहा जाता है कि भक्ति द्रविड़ में उपजी अर्थात् भक्ति द्रविड़ देश में पैदा हुई। प्रेमाश्रयी शाखा के पुनः दो रूप हुए। एक भारतीय प्रेमा भक्ति और दूसरी सूफी परम्परा की फारसी साहित्य से प्रभावित प्रेमा भक्ति। भारतीय परम्परा में परमेश्वर को प्रियतम मानने की परिपाटी है, इसके विपरीत फारसी साहित्य में कवि अपने आपको आशिक (प्रियतम) तथा परमेश्वर को माशूका (प्रियतमा) मानकर भाव प्रकट करता है। इसका कारण यह है कि फारसी का अधिकांश साहित्य इश्के-मिजाजी (लौकिक प्रेम) के रूप में है। बाद में इसकी व्याख्या इश्के-हकीकी (अलौकिक प्रेम) के रूप में होने लगी। इसलिए उनके साहित्य में परमेश्वर प्रेमी न होकर प्रेमिका ही रह गया। हिन्दी साहित्य में मलिक मुहम्मद जायसी, कुतबन मज्झन आदि ने इसी प्रकार का सूफी प्रणाली का भक्ति साहित्य लिखा।

भारतीय सगुण भक्तिधारा आगे चलकर दो शाखाओं में विभक्त हो गई।

राम भक्ति शाखा जिसके सबसे महानतम शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी हुए हैं।

कृष्ण भक्ति शाखा जिसके प्रेरक श्री चैतन्य महाप्रभु एवं महाप्रभु बल्लभाचार्य हुए तथा सूरदास, मीरा, नन्ददास, कृष्णदास, रहीम, रसखान आदि कवियों ने इस कृष्ण भक्ति शाखा में अपनी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाए-खिलाए।

सेवाश्रयी भक्तिधारा

भक्ति का एक और रूप है जो प्रायः दृष्टि से ओझल हो जाता है। वह है सेवाश्रयी भक्तिधारा। जब भक्ति का मूल अर्थ ही सेवा है तब सेवा छोड़कर केवल भजन, कीर्तन, गान, देवता पर फूल अक्षत चढ़ाने या करताल बजाने अथवा नाम रट लगाने मात्र को ही भक्ति कैसे माना जा सकता है। ये सब भक्ति के सहायक साधन हो सकते हैं किन्तु भक्ति के पर्याय नहीं। यदि भगवान् का नाम जपते हुए हम भगवान् की सन्तति नर-नारायण की सेवा भी करते जाते हैं तभी हमारी भक्ति सुफल सिद्ध होती है। भगवान् राम ने स्वयं वनवासियों को हृदय से

लगाकर प्रेमदान किया। शबरी के जूठे बेर स्वीकार किए। केवट की भक्ति भी राम की सेवा के रूप में ही थी न कि मात्र गुण-कीर्तन के रूप में। गिद्धराज जटायु की भक्ति भी सेवा रूप में थी। हनुमान की भक्ति सेवा रूप में थी। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, विभीषण, अंगद, वनवासी बंदर-भालू, जामवन्त, सुग्रीव आदि सबकी भक्ति सेवामूलक, कर्ममूलक थी। अन्यथा भगवान् दुष्ट दलन एवं साधु परित्राण करके कैसे धर्मराज्य की संस्थापना करते?

भगवान् कृष्ण ने गोप-ग्वालों पर प्रेम निछावर किया और गोप-ग्वालों ने श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति दूध, दही, माखन, कंस से संरक्षण, गोवर्द्धन धारण में सहयोग आदि के रूप में प्रदर्शित की। यदि वे केवल कृष्ण का नाम कीर्तन करते रहते और कृष्ण को आततायियों से न बचाते तो वे श्रीकृष्ण कैसे कहलाते? अर्जुन की भक्ति सेवा रूप में थी। भगवान् कृष्ण ने दुष्ट दलन, साधु परित्राण और लुप्त ज्ञान के पुनः प्रकाशन में अर्जुन को माध्यम बनाया।

श्रवण की मातृ-पितृ भक्ति, माता-पिता की सेवा करने में ही थी न कि केवल उनका नाम गुणगान करने में। दयानन्द, विवेकानन्द की गुरु भक्ति गुरु की सेवा करने में ही थी न कि मात्र गुरु का गुणगान करने में। आधुनिक काल में तिलक, गांधी एवं वेदमूर्ति श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी ने सेवाश्रयी भक्ति का पथ दर्शाया। तिलकजी ने कर्मयोग को ही सच्ची भक्ति बताया। गांधीजी ने अपनी देशभक्ति के क्रियाकलाप को अपनी आध्यात्मिक मुक्ति का साधन बताया। सातवलेकरजी का कथन है कि 'विराट् विश्व ही परमेश्वर का व्यक्त रूप है।' इसके समस्त जीवों की सेवा ही परमेश्वर के व्यक्त रूप की पूजा है। अतः नर की सेवा नारायण की पूजा है। ईश्वर का कोई व्यक्त रूप है तो यह जगत् और जीव ही है अन्य कुछ नहीं।

हरिरेव जगत् जगदेव हरिः।

दुर्भाग्य से भक्ति की इस सेवाश्रयी शाखा पर बहुत कम साहित्य लिखा गया है। यह अत्यन्त विस्मय की बात है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं भक्ति की भजन कीर्तन स्मरण वाली व्याख्या कम और सेवा धर्म की व्याख्या अधिक की है। भक्तियोग के द्वादश अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। 12/4, गीता

अर्थात् वे सब भूतों के कल्याण में लगे हुए मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त करते हैं।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि। 12/10, गीता

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।। 12/11, गीता

तू आत्मवत बनने का यत्न करते हुए सब कर्मों के फल का त्याग कर।

जो सबकी सेवा में लगा होगा वह न किसी से द्वेष करेगा न कोई उससे द्वेष करेगा।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। 12/15, गीता

सेवाव्रती भक्त स्थितप्रज्ञ रहता है। वह न हर्षित होता है न द्वेष करता है न आकांक्षा करता है। मित्र-शत्रु में, मान-अपमान में, गर्मी-सर्दी में, सुख-दुःख में, निन्दा-स्तुति में समान रहते हुए नर-नारायण की सेवा में लगे रहना चाहिए। (गीता, 12/17, 18, 19)

सेवाव्रती को इतना निष्काम होना चाहिए कि उसके व्यक्तिगत स्वार्थ का प्रथम अधिष्ठान उसके निजी घर तक नहीं रहना चाहिए।

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।। 12/19, गीता

ऐसा घर विहीन स्थिर बुद्धिवाला सेवाव्रती भक्त भगवान् को अति प्रिय है। मनुष्य जो कुछ स्वार्थ से अर्जित करता है वह पहले अपने शरीर में लादने का प्रयास करता है। फिर शरीर पर जब अधिक बोझा नहीं ढो सकता तब अपने घर में लादने का प्रयास करता है। किन्तु जिसका कोई घर ही नहीं है और अपने तन-मन को भगवान् के प्रति समर्पित कर दिया है वह कुछ भी संग्रह न करने वाला सेवाव्रती सबसे उत्तम भक्त है।

18वें अध्याय के 46वें श्लोक में भगवान् अर्जुन को पुनः उपदेश करते हैं—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। 18/46, गीता

अपने कर्मों के फूल से भगवान् की अर्चना करके मानव परमसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। इससे स्पष्ट है कि सेवा ही सच्ची भक्ति है।

राग और वैराग्य—महर्षि शाण्डिल्य ने अपने भक्ति सूत्र में भक्ति को ईश्वर के प्रति परम रागात्मक-वृत्ति कहा है। राग और प्रेम दोनों समानार्थक ही हैं। किन्तु यह राग इन्द्रिय भोग के अर्थ में नहीं होना चाहिए। वासना और प्रेम में उतना ही अन्तर है जितना कि काच और काञ्चन में। इसलिए परमेश्वर के प्रति राग विषयों के प्रति राग से बिल्कुल विपरीत है। वास्तव में विषयों से वैराग्य होने पर ही परमेश्वर के प्रति राग उदित होता है। दूसरी ओर परमेश्वर का आकर्षण पैदा होते ही संसार के सब विषयों के राग-भोग निरस हो जाते हैं। गुरु नानकदेव ने कहा है—

'**ओ रस आवा ये रस नहीं भावा।**'

भक्ति में प्रेम का बढ़ता हुआ आकर्षण—भक्ति प्रेमस्वरूपा या शुद्ध रागस्वरूपा होने के कारण ज्यों-ज्यों प्रेम बढ़ता जाता है त्यों-त्यों जीवात्मा के मन में परमात्मा का आकर्षण अधिक से अधिक तीव्र होता जाता है। भक्त को भगवान् की स्मृति, नामकीर्तन, गुणानुवाद, कथावार्ता, लीला कथन से बड़ा सुख मिलता

है। वह आठों याम भक्तिरस में ही डूबा रहना चाहता है। भक्ति भक्त का जीवन सर्वस्व बन जाती है।

व्याकुलता

महर्षि नारद ने भक्ति सूत्र में लिखा है—

'तद् विस्मरणे परम आकुलतेति।'

अर्थात् प्रभु के विस्मरण से भक्त को परम व्याकुलता का अनुभव होता है। जब भक्ति ही भक्त का जीवन सर्वस्व है तो उसे भक्ति में बाधा होने पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसका जीवन ही कोई छीन रहा है। जिस प्रकार से जीव प्राणों पर संकट आने से परम व्याकुल हो उठता है उसी प्रकार भक्त प्रेमी (भगवान्) के विस्मरण से परम व्याकुल होकर तड़पने लगता है। वह कई बार अपने प्राणों तक को निछावर करने को उद्यत हो जाता है। प्रभु के वियोग में भक्त आंसू बहाता है, प्रभु को पुकारता है और वियोग को मृत्यु तुल्य मानता है। गुरु नानकदेव कहते हैं—

आंखा जीवा विसरै मर जांवा

अर्थात् प्रभु को स्मरण करने में जीता हूं और उसके विस्मरण में मेरी मृत्यु आ जाती है। महात्मा कबीर कहते हैं—

के विरहिन को मीच दे के आपा दिखलाय,
आठ पहर का दाझणा मोसे सहा न जाय।

हे भगवान्! या तो मुझ विरही को मौत दे या अपने आपका दर्शन करा दे। आठों पहर वियोग में जलना मुझ से सहा नहीं जाता।

भक्ति में सर्वस्व समर्पण एवं बलिदान—भक्त अपने प्रियतम के लिए तन, मन, धन एवं प्राण तक बलिदान करने को उद्यत हो जाता है। मीरा बाई की भावना है—

धरा में धंसा दो सूली-फांसी पर चढ़ा दो,
चाहे मिट्टी में मिला दो या गिरा दो गगन से,
चाहे तेग तलवार या तेज तीर से तराशो,
तब छूटेगी न लगी जो लगन प्राणधन से।

इसी भावना से देव भक्त देवता के लिए और देश भक्त देश के लिए बलिदान होते हैं। अपने से बड़ी इकाई के लिए बलिदान ही यज्ञ कहा जाता है। इस प्रकार भक्ति मानव के अन्तर के यज्ञभाव को जगाती है।

व्यक्त एवं अव्यक्त की उपासना

गीता के द्वादश अध्याय में अर्जुन यही प्रश्न उपस्थित करता है कि जो भगवान् के व्यक्त रूप की उपासना करते हैं वे सच्चे योगवेत्ता हैं अथवा वे जो अव्यक्त रूप

की उपासना करते हैं। अर्जुन के मन में यह प्रश्न इसलिए उठा क्योंकि भगवान ने पहले अपने अव्यक्त रूप की स्थापना की।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।। 7/7, गीता

मेरे से परे अन्य कुछ भी नहीं है। सब मेरे में उस प्रकार से पिरोये हुए हैं जिस प्रकार सूत्र में मणियां पिरोयी होती हैं।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।। 7/10, गीता

हे पार्थ! मैं सब भूतों का सनातन बीज हूं। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।। 7/24, गीता

बुद्धिहीन पुरुष मुझ अव्यक्त को व्यक्ति रूप मानकर मेरे परम भाव को नहीं जानते हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।। 7/25, गीता

मैं अपनी योगमाया से छिपा हुआ सबको प्रत्यक्ष नहीं होता हूं। इसका अर्थ स्पष्ट है कि भगवान् अव्यक्त है।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः।। 8/3, गीता

परम अक्षर ब्रह्म है।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।। 8/9, गीता

जो सबका धाता अचिंत्य रूप है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। 8/13, गीता

ओम् एक अक्षरवाला ब्रह्म है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। 8/21, गीता

अव्यक्त अक्षर ही परम गति है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।। 9/4, गीता

मुझ अव्यक्त मूर्ति द्वारा सारा जगत् व्याप्त है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।। 9/10, गीता

मेरी अध्यक्षता में प्रकृति सारे चराचर की रचना करती है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।। 9/24, गीता

मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूं।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। 9/29, गीता

मैं सब भूतों में सम हूं।

दशम अध्याय में भगवान् अपनी विभूतियां गिनाते समय कुछ व्यक्त विभूतियां और कुछ अव्यक्त विभूतियां गिनाते हैं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। 10/20, गीता

मैं सब भूतों के हृदय में स्थित आत्मा हूं।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।। 10/35, गीता

मैं छन्दों में गायत्री हूं। यहां अव्यक्त विभूतियों का वर्णन है। किन्तु सूर्य, चन्द्र, हिमालय, गंगा, अर्जुन, वासुदेव, ऐरावत, प्रह्लाद, व्यास, कपिल, राम आदि व्यक्त विभूतियां हैं। एकादश अध्याय में भगवान् पहले सारे विश्व को अपने स्वरूप में स्थित दिखाते हैं। और अर्जुन के भयभीत हो जाने पर उसकी प्रार्थना पर उसे अपना सुन्दर चतुर्भुज रूप दिखाते हैं और अध्याय के अन्त में (श्लोक 54-55 में) कहते हैं कि अनन्य भक्ति द्वारा ही मेरे इस रूप का दर्शन हो सकता है और जो मेरा (आसक्ति रहित) भक्त है वह मुझे प्राप्त होता है।

चूंकि एकादश अध्याय की समाप्ति भक्ति की महिमा और भक्त की महत्ता से हुई है। इसलिए द्वादश अध्याय के प्रारम्भ में ही अर्जुन प्रश्न करता है कि इस प्रकार आपके व्यक्त रूप की जो उपासना करते हैं और जो अन्य अव्यक्त रूप की उपासना करते हैं उनमें से सच्चे योग के वेत्ता कौन हैं? अर्जुन इसलिए भ्रमित हो गया है क्योंकि छठे से लेकर 9वें अध्याय तक अव्यक्त की महिमा अधिक गाई गई और दशम अध्याय में व्यक्त-अव्यक्त दोनों की और एकादश में व्यक्त विश्व रूप और सगुण-साकार चतुर्भुज रूप दोनों की महत्ता दर्शायी गई है। अर्जुन का

प्रश्न पूछना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समीचीन ही है। भगवान् व्यक्त और अव्यक्त दोनों की महत्ता मानते और प्रतिपादन करते हैं। और दोनों का अंतिम फल समान रूप से परमेश्वर प्राप्ति ही बताते हैं। किन्तु अव्यक्त की उपासना में क्लेश अधिक होता है यह भी संकेत करते हैं। व्यक्त की उपासना के लिए भगवान् ने कहा—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।। 12/2, गीता

जो मन को मुझ में एकाग्र करके परम श्रद्धा से पूरित होकर नित्य मेरे से जुड़े हुए उपासना करते हैं वे ही मेरी दृष्टि में उत्तम योगी हैं। इसमें भगवान् ने तीन गुण बताये—

(क) मन को एकाग्र करे, परम श्रद्धा से पूरित हो, तथा निरन्तर मेरी भजन साधना में लगा रहे अर्थात् एकाग्रता, श्रद्धा और निरन्तरता हो। ये तीन गुण होने पर योगी भगवान् की दृष्टि में अति उत्तम है।

इसकी तुलना में अव्यक्त की उपासना के लिए निम्नलिखित बिन्दु गिनाये गये हैं—

(क) जो परमेश्वर अक्षर (क्षरण रहित) है।

(ख) जो बिना निर्देश वाला है।

(ग) जो अव्यक्त है। उसकी उपासना करने वाले।

(घ) जो सर्वव्यापक है।

(ङ) जो अचिन्त्य है।

(च) जो कूटस्थ है।

जो अचल है।

जो ध्रुव है उसकी उपासना करने वाले।

जिन भक्तों ने अपनी इन्द्रियों को वश में किया है,

जो सर्वत्र समबुद्धि है।

जो सब भूतों के हित में लगे हैं।

ऐसे अव्यक्त के उपासक मुझे ही प्राप्त करते हैं। इसमें आठ गुण अव्यक्त ब्रह्म के और तीन गुण उपासक के बताये गये हैं। यह पूरे होने पर अव्यक्त का उपासक उसी ब्रह्म को प्राप्त करेगा, जो व्यक्त के उपासक को मन की एकाग्रता और हृदय की श्रद्धा से मिल जाता है। इसलिए अव्यक्त की उपासना का फल बराबर होते हुए भी क्लेश अधिक भोगना पड़ता है। इस प्रकार व्यक्त की उपासना अव्यक्त की अपेक्षा सरल एवं सुखकर है। व्यक्त और अव्यक्त का वास्तविक

भाव क्या है? इस पर व्याख्याकारों में मतभेद हैं—

(क) कुछ लोग व्यक्त का अर्थ सगुण-साकार व्यक्ति रूप भगवान् मानते हैं। जैसे भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, शिव-पार्वती, गणेश आदि। वे इनकी साकार मनुष्य रूप प्रतिमाएं बनाकर उनकी पूजा अर्चना भी करते हैं।

(ख) सगुण—निराकार तत्त्व रूप की पूजा। इनके मत में परमेश्वर में गुण हैं जैसे—शक्ति, शील, सौन्दर्य, करुणा, मैत्री, अहिंसा, सत्य, शान्ति, आनन्द आदि ईश्वरीय गुण। किन्तु वह ईश्वर कोई आकारधारी व्यक्ति नहीं है। अतः वह अव्यक्त है। ऐसे भक्त मूर्ति पूजा को कोई स्थान नहीं देते। जैसे हिन्दुओं में आर्य समाजी तथा ब्रह्म समाजी, ईसाइयों में प्रोटैस्टैन्ट, जैनियों में श्वेताम्बर जैन—ये भगवान् के गुणों की महिमा गाते हैं। किन्तु उनके व्यक्ति शरीर की प्रतिमा नहीं पूजते हैं।

(ग) निर्गुण-निराकार—परम सत्ता किसी गुण में बंध नहीं सकती। गुण का एक अर्थ रज्जु या बंधन है। परम सत्ता को बांधना उसका तिरस्कार है। मूल गुण तीन हैं। सत्त्व, रज, तम ये तीनों प्रकृति के गुण हैं। अतः जिस भी व्यक्ति या वस्तु के गुण गिनाए जाएंगे वह प्रकृति के अधीन होगा। पर प्रकृति परमेश्वर के अधीन है और परमेश्वर उसके अधीन कभी नहीं। इसलिए ब्रह्म के गुण गिनाने में ब्रह्म की महत्ता ही कम हो जाती है। प्रत्येक वस्तु का एक मूल रूप होता है और एक गौण रूप। मूल रूप में वह अपने आप में स्थित है और गौण रूप में गुणों में स्थित है। ब्रह्म के गुण गिनाना उसे गौण बनाना है। अतः ब्रह्म निर्गुण, निरुपाधि, निराकार, निर्विकार परम सत्ता है जो पूर्णतया अव्यक्त है। यह शंकर के अद्वैत वेदान्त का मत है।

वास्तव में व्यक्त और अव्यक्त में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना अव्यक्त के व्यक्त हो ही नहीं सकता। जैसे खाण्ड व्यक्त है किन्तु उसकी मिठास अव्यक्त। फूल व्यक्त है पर सुगन्धि अव्यक्त। बिना मिठास को छुए कोई खाण्ड को छू भी नहीं सकता। व्यक्ति को इसीलिए व्यक्ति कहते हैं, उसमें अव्यक्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति हुई है। भगवान् मायानन्द चैतन्य पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर आदि विद्वानों का मत है कि यह विश्वरूप भगवान् का व्यक्त रूप है। सातवें, आठवें और नवें अध्याय में भगवान् अर्जुन को अपने अव्यक्त रूप की महत्ता समझाते रहे किन्तु अर्जुन में कोई विशेष परिवर्तन देखने में नहीं आया। किन्तु जब भगवान् ने विश्वरूप में अपने आपको व्यक्त किया तब अर्जुन अतिशय प्रभावित हुआ और हाथ जोड़कर भगवान् का आदेश मानने के लिए प्रस्तुत हो गया। वास्तव में गीतोपदेश में अर्जुन के हृदय परिवर्तन की कुंजी विश्वरूप दर्शन में ही है। अतः भगवान् की व्यक्त उपासना का अर्थ है विश्वरूप भगवान्। जो अनन्तानन्त जीवों के रूप में व्यक्त हुए हैं उनकी उपासना। उनकी भक्ति या सेवा। सातवलेकरजी का मत है कि सगुण-साकार मूर्ति की पूजा के स्थान पर भगवान् के बनाये सजीव

जीवों की सेवा ही सच्ची भक्ति है। अतः नर की सेवा ही नारायण की पूजा है। जीव की सेवा ही शिव की पूजा है।

अव्यक्त की उपासना प्रायः योगी लोग ही कर सकते हैं। क्योंकि इसमें समस्त इन्द्रियों को वश में करना अनिवार्य होता है।

प्रतीकोपासना

कुछ लोग सगुण साकार की पूजा में किसी प्रतीक या प्रतिमा को सम्मुख रखकर उपासना करते हैं। वास्तव में प्रतीकोपासना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत अधिक उपयोगी तथा प्रायः सब धर्मों में किसी न किसी रूप में प्रचलित है। मन को एकाग्र करने के लिए प्रतीक एक आधार बन जाता है। और साधक के ध्यान को अधिक भटकने नहीं देता। फिर चित्र से चरित्र का स्मरण भी प्रायः हो जाता है। ईसाई धर्म में क्रॉस एक प्रतीक है। इस्लाम में संगेअस्वद एक पत्थर है जिसे हज के समय चूमते हैं। मुहर्रम के ताजिये भी प्रतीक हैं। बौद्ध धर्म में चक्र एक प्रतीक है। सिक्ख धर्म में गुरुग्रंथ साहब एक पूज्य प्रतीक है। भक्त के भक्ति भाव से प्रतीक में उसी प्रकार की दैवीय शक्ति आ जाती है जिस प्रकार लोहे को गर्म करने से उसमें अग्नि का ताप स्वतः प्रविष्ट हो जाता है। लोहे में जलाने की शक्ति नहीं है, किन्तु गर्म लोहे के गोले को छूते ही व्यक्ति चिल्लाने लगता है—हाय! जल गया। यह दाहक शक्ति कहां से आयी? निश्चय ही अग्नि के सम्पर्क में रहने से अग्नि उसमें प्रविष्ट हो गई। प्रतीकोपासना का रहस्य तात्त्विक एवं मनोवैज्ञानिक है। जब ईश्वर सर्वव्यापक है तो उस मूर्ति या प्रतीक में भी व्याप्त है। भक्त की भावना से प्रतीक में परम तत्त्व की प्राणप्रतिष्ठा हो जाती है और भक्त अपनी अटल श्रद्धा के बल से उसी प्रतीक में से अपने आराध्य को पा लेता है। जिस वस्तु के प्रति जो भावना लगातार अखण्ड रूप से बनी रहती है उसमें हमें वैसे ही तत्त्व के दर्शन होने लगते हैं। शौचालय का पत्थर, कब्र का पत्थर और देवालय का पत्थर चाहे एक ही पहाड़ में से निकले हों किन्तु उनके प्रति लगातार जो मलिन भावना, प्रेत भावना और पूज्य भावना बन जाती है उसके कारण उनके प्रति वैसा-वैसा ही व्यवहार होता है। माता-बहन, पुत्री और पत्नी चारों ही नारी शरीर हैं किन्तु उनके प्रति भिन्न-भिन्न भावना होने के कारण उनके प्रति आदर, स्नेह, दुलार और दाम्पत्य प्रेम भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसलिए कहा है 'भावे विद्यते देवाः' अर्थात् भक्त का भाव ही वास्तविक देवता है।

भावना और भावुकता

भक्ति एक सात्त्विक सतत समर्पण भावना है। यह मात्र भावुकता नहीं। भावुकता मन का अल्पकालिक एवं आकस्मिक उबाल होता है जिसमें मनुष्य

आवेश में आकर कुछ अनर्गल बातें या कृत्य कर बैठता है। कई बार वह भक्त के समान दिखाई देता है किन्तु वह बाद में होश आने पर अपने ही किए पर पछताने लगता है अतः वह भक्त नहीं कहला सकता। भक्त अपनी सूझ-बूझ के साथ बिना क्षणिक आवेश के यह समझता है कि उसका जीवन आराध्य देव के लिए समर्पित है। यह जानते हुए कि इस नश्वर शरीर की भक्ति साधना द्वारा अविनश्वर परमपद या परमेश्वर के प्रेम को पाना है। वह अपनी सारी भावना को इस बौद्धिक निश्चय पर उड़ेल देता है। अतः व्यक्ति एक भाव Sentiment है मात्र मानसिक (Emotion) नहीं। आवेश में मनुष्य अंधा हो जाता है और वह लक्ष्य को भी भूल जाता है। किन्तु भावना में लक्ष्य का निरन्तर स्मरण रहता है और भक्त अपनी सारी क्रियाओं को लक्ष्य की ओर ही प्रेरित करता है। भावुकता एक प्रकार का मानसिक रोग है जिसमें बुद्धि व विवेक दब जाते हैं और परिणाम कैसा होगा कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु भक्ति में भक्त का विवेक कायम रहता है। उसके मन में आनन्द और शान्ति की अनुभूति होती है और परिणाम सदा मंगलकारी ही होते हैं। भावना वाला व्यक्ति एक महान् पुरुष, इतिहास निर्माता या पूज्य प्रेरक बन जाता है। किन्तु भावुक व्यक्ति कुछ क्षणिक उबाल के बाद नष्ट हो जाता है। वह इतिहास का कूड़ा-कचरा बन जाता है। तमोगुणी भक्ति, भूत प्रेत की पूजा, आसुरी यज्ञ आदि में बुद्धि पर तमोगुण का पर्दा पड़ जाता है। अतः वह निन्दनीय है। रजोगुणी भक्ति देवता और यक्ष-किन्नर आदि की पूजा के रूप में प्रकट होती है। रजोगुणी बुद्धि नैतिक-अनैतिक का निर्णय करती हुई भले-बुरे, हित-अहित का निर्णय करती है। अतः सामान्य भक्त इस स्तर पर रजोगुणी बुद्धि रखते हुए नैतिक-अनैतिक का विवेक रखते हुए देव भक्ति करते हैं। सबसे उत्तम सतोगुणी भक्ति है जिसमें सतोगुणी बुद्धि सत् और असत् का निर्णय करती है और भक्त सत् वस्तु के लिए अपने आपको समर्पित कर देता है। अतः भक्ति बुद्धि का तिरस्कार न होकर बुद्धि का उचित सत्कार है। पवित्र बुद्धि निश्चय करती है कि परमेश्वर ही एकमात्र परम सत्य है और हृदय अपनी सारी भावना इस निर्णय पर चढ़ा देता है। यही भक्ति भावना है। विवेकहीन ढंग से अपने हृदय की भावना को कहीं पटक देना भक्ति नहीं है। सात्त्विक बुद्धि के निर्णय के पश्चात् जब उसी में निश्चय करके मनुष्य टिक जाता है तो वह धृति कही जाती है। सच्ची भक्ति में ये धृति या धीरज वर्तमान रहता है। किन्तु क्षणिक आवेग और भावुकता में, मानसिक रोग में, कृत्रिम भक्ति में धृति नहीं रहती। इसलिए थोड़ा-सा संकट आने पर या परिस्थिति के प्रतिकूल होने पर सारी भावुकता भाग जाती है। उदाहरण के लिए देश भक्ति के नारे लगाने वाले भावुक बहुत होते हैं किन्तु देश के लिए जेल जाने, फांसी चढ़ने का अवसर

उपस्थित होने पर सब भावुक देशभक्त भाग जाते हैं और भगतसिंह जैसा कोई सच्चा देशभक्त ही सर्वोच्च परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। सच्चे भक्त को कोई भी भय, संकट या प्रलोभन अपने पथ से विचलित नहीं कर सकता।

भक्त का भावमय शरीर

भक्ति करते-करते जहां भक्त का भाव अपने प्रतीक में भी भावों का दर्शन करने लगता है वहां उसको स्वयं भी भावमय शरीर प्राप्त हो जाता है। स्थूल शरीर को भूख-प्यास, दुःख-सुख की जो अनुभूतियां होती रहती हैं वह भावमय शरीर को बिल्कुल नहीं होती। इसलिए स्थूल शरीर से ऊपर भक्त एक भावमय शरीर प्राप्त कर स्थूल शरीर की लौकिक आवश्यकताओं से ऊपर उठकर भगवान् के ध्यान में कई पहर और कई दिन तक लीन रहता है। उस समय उसे स्थूल शरीर का कोई भान ही नहीं होता। भूख-प्यास नहीं सताती। मीरा बाई को विष का प्याला भी नहीं मार सकता और प्रह्लाद को हिरण्यकशिपु की तलवार, अग्नि-चिता या तपे हुए लोहे के खम्भे में कोई भय नहीं प्रतीत होता। भगतसिंह फांसी के तख्ते पर हंसते-गाते हुए जाता है। खुदीराम बोस आत्मा के अमर तराने गाते हुए मृत्यु का स्वागत करता है। सामान्य व्यक्ति देहाध्यास में फंसा रहता है। उसे कांटा चुभने पर भी पीड़ा होती है। यानी देहाध्यास से ऊपर उठने का बौद्धिक उपदेश एवं अभ्यास करता है। किन्तु भक्त अपने भावमय शरीर से देहाध्यास से ऊपर उठ जाता है। वह बड़े-बड़े ज्ञानियों से भी ऊंची स्थिति में पहुंच जाता है। उसका शरीर रहते हुए भी वह शरीर की कारा से मुक्त हो जाता है। ज्ञान के शुष्क बीज को जब तक भक्ति का श्रद्धाजल नहीं चढ़ता तब तक वह भी अंकुरित नहीं होता। इसलिए ज्ञान के तत्त्वों के प्रतिफलन के लिए भी भक्ति अनिवार्य है।

ज्ञान और भक्ति

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

ज्ञान पंथ कृपान की धारा। परत खगेस न लागहिं बारा।।
भक्तिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहिं डरपति अति माया।।

भगवान् भक्ति के बहुत अनुकूल हैं। इसलिए माया भी भक्त से बहुत डरती रहती है। जहां ज्ञान साधक निरन्तर माया से डरता रहता है कि कहीं वह उसको अचानक धूल में पटक न देवे वहां माया स्वयं भक्त से डरती रहती है। क्योंकि भक्त निरन्तर भगवान् के भाव में रहता है।

शांडिल्य ऋषि ने अपने भक्ति सूत्र में लिखा है कि ज्ञान होने के उपरान्त भी द्वेष का भाव या प्रेम का अभाव हो सकता है जैसे—हम शत्रु को जानने के उपरान्त भी उनके प्रति द्वेष भाव रखे रहते हैं किन्तु भक्ति में द्वेष का कोई स्थान है

ही नहीं। अतः भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है। यहां वास्तव में साधारण लौकिकज्ञान का ही उदाहरण दिया गया है। अमर वस्तु के ज्ञान का नहीं।

भक्त लोग भक्ति को मुक्ति से भी ऊंचा दर्जा देते हैं। तुलसी रामायण में भरतजी कहते हैं—

धर्म न अर्थ न काम रुचि गति न चहऊँ निर्वान।
जन्म-जन्म रति राम पद यह वरदान न आन।

श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

न धनं, न जनं, न सुन्दरीं वा न कवितां वा
जगदीश कामये....मम जन्म-जन्मनि।

हे जगदीश! न मुझे धन चाहिए, न जन न सुन्दरी और न कविता चाहिए। जन्म-जन्म में मेरी आपके प्रति अहैतुकि भक्ति बनी रहे बस यही मांगता हूं।

मानव सेवासंघ के स्वामी शरणानन्दजी के तीन सूत्र हैं—सेवा, त्याग और प्रेम। वे कहते हैं सेवा द्वारा मानव समाज के लिए उपयोगी बनता है। त्याग द्वारा अपने लिए उपयोगी बनता है अर्थात् वह संसार के बंधनों से मुक्त हो मोक्ष लाभ करता है और प्रेम के द्वारा वह भगवान् के लिए उपयोगी बनता है। उनका तर्क है कि जीवन्मुक्ति के बाद उससे भी ऊंचा दर्जा ईश्वर प्रेम या ईश्वर भक्ति है। मुक्ति तो अपने हित के लिए पाई। हमने परमेश्वर के लिए क्या किया? परमेश्वर के प्रति निष्काम, निःस्वार्थ प्रेम रखें तो परमेश्वर के प्यारे बनेंगे। इस तरह भक्ति मुक्ति से भी श्रेष्ठ सिद्ध हो जाती है।

सकाम एवं निष्काम भक्ति

भगवान् से कोई फल की कामना रखकर भक्ति करना सकाम भक्ति है और शुद्ध भागवत प्रेम के लिए ही भगवान् की भक्ति करना निष्काम भक्ति है। भगवान् ने गीता में चार प्रकार के भक्त गिनाये हैं—**आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी।** दुःख में जीव भगवान् को पुकारता है। भूखा बच्चा मां को स्मरण करता है। चाहे इसमें भक्त का कुछ स्वार्थ ही है किन्तु वह इस निमित्त भगवान् को याद तो करता है। इसलिए वह भी भक्त की कोटि में है। चाहे सकाम ही है। दुःख में भगवान् के सिवा और कौन रक्षा कर सकता है? आर्त भक्तों में गजेन्द्र, द्रौपदी आदि। अर्थार्थी भक्त भगवान् से कुछ धन-सम्पत्ति, सफलता, राज्य प्राप्ति आदि की कामना करता है। युधिष्ठिर, बालक ध्रुव ने अपनी भक्ति इसी भाव से शुरू की ताकि उन्हें राजा की गोदी या राज्य का उत्तराधिकार मिल सके। किन्तु भगवान् की भक्ति करते-करते वह सकाम से निष्काम हो गया। उसने कहा—मुझे वह भक्ति दो कि कामना का बीज ही अंकुरित न हो।

जिज्ञासु भक्त—भगवान् को जानने की इच्छा से भगवान् की भक्ति करने वाला भक्त जिज्ञासु भक्त है। यह आर्त एवं अर्थार्थी से ऊंचा है। अर्जुन, नचिकेता, नारद, सनत्कुमार आदि जिज्ञासु भक्त हैं।

ज्ञानी—भगवान् को तत्त्वतः जानकर भगवान् की उपासना करने वाला ज्ञानी भक्त कहलाता है। भगवान् कहते हैं—

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। 7/18, गीता

ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है। भक्ति के आचार्य कहते हैं कि इसमें महिमा ज्ञान से भी बढ़कर भक्ति की ही है। क्योंकि भगवान् ने ज्ञानी भक्त शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है कि ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त भी जो भगवान् की भक्ति में लीन है। भगवान् अन्यत्र भी कहते हैं—

ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। 7/19, गीता

अर्थात् ज्ञानवान मेरी शरण में आता है। शरण में आना भक्ति का लक्षण है। इस प्रकार साधना का अन्तिम पड़ाव ज्ञान न होकर भक्ति ही है।

भक्ति का निष्काम होना भक्ति के गौरव के लिए अनिवार्य है। अन्यथा भक्ति व्यवसाय या सौदेबाजी बन जाएगी। सच्चा भक्त भगवान् से कुछ नहीं मांगता। जब भगवान् सर्वान्तर्यामी हैं तो वे भक्त के अन्तर को और उसकी आवश्यकताओं को स्वयं जान रहे हैं। उन्हें जो उचित प्रतीत होगा वह अपने आप करेंगे। उनके सामने किसी सांसारिक वस्तु की कामना को प्रस्तुत करना उनके सर्वान्तर्यामी रूप का तिरस्कार है जहां से सब कामनाएं पैदा होती हैं। स्वयं वहीं बैठे हुए वे जान रहे हैं। तब उनसे मांग कर दरिद्रता का ही प्रदर्शन करना है। और उनके अन्तर्यामी स्वरूप की अवमानना है। जीव भगवान् की संतान होने से सारे ऐश्वर्य का उत्तराधिकारी है। वह सारा ऐश्वर्य बिना मांगे ही हमारा है, केवल प्रभु का बन जाना चाहिए। प्रभु से मुंह फेरे रहने पर उत्तराधिकार कैसे मिलेगा? न तो प्रभु मिलेंगे न ऐश्वर्य मिलेगा।

'नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये'

हे रघुपति! मेरे हृदय में अन्य कोई स्पृहा नहीं है। हे भगवान्! मैं सत् बोल रहा हूं और आप सारे विश्व की अन्तरात्मा हैं अतः आप पहले ही जानते हैं। हे भगवान्! अपनी निष्काम-निःस्वार्थ निर्भरा भक्ति मुझे प्रदान कर दो और मेरे मन को काम, मोह, मद-मत्सर के दोषों से रहित कर दो। नृसिंह भगवान् ने बालक प्रह्लाद को कहा—कोई वर मांगो। उसने कहा, आपके दर्शन प्राप्ति के पश्चात् अन्य किसी वर की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। भगवान् ने कहा, मेरा दर्शन निष्फल नहीं होना चाहिए, कुछ तो मांग लो। तब प्रह्लाद ने हाथ जोड़कर विनती की—

कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्। भाग. 7/10/7

हे भगवान्! मेरे हृदय में कामनाओं का अंकुर फूटने ही न पाए। यही मेरी कामना है। गीता में भगवान् ने भक्ति की महत्ता में एक शब्द का प्रयोग किया है '**अव्यभिचारिणी भक्ति**' अर्थात् भक्ति में व्यभिचार भाव नहीं होना चाहिए। जैसे सती स्त्री जिस पति का वरण करती है उसी के प्रति जीवनभर सच्ची निष्ठा से समर्पित रहती है। उसी प्रकार सच्चे भक्त को भगवान् के प्रति निरन्तर एकनिष्ठता से समर्पित रहना चाहिए। व्यभिचारिणी स्त्री के समान अन्य स्वार्थों की ओर झांकना नहीं चाहिए। भक्ति केवल भक्ति के लिए हो। शुद्ध भागवत प्रेम के लिए अन्य किसी हेतु के लिए नहीं। तभी सच्ची भक्ति है।

अनन्य भक्ति

अनन्य शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न आचार्य अपने सिद्धान्तानुसार करते हैं। अनन्य के तीन अर्थ क्रमशः एक-दूसरे से ऊंचे बनते हैं।

(क) प्रभु के सिवा मैं अन्य किसी की भक्ति नहीं करूंगा। तुलसीदासजी ने अपने नवरत्न सभा में प्रवेश के निमंत्रण का अकबर को उत्तर दिया—

हम चाकर रघुवीर के पट लिखो दरबार।
तुलसी अब क्या होयेंगे नर के मनसबदार।।

ऐसा भक्त अपने इष्ट देवता के सिवा किसी दूसरे की भक्ति या उपासना नहीं करता। तुलसीदासजी ने भगवान् कृष्ण की मूर्ति के सम्मुख कहा—

कहा कहों छबि आपकी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै जब धनुष बाण लो हाथ।।

(ख) अनन्य भक्ति का दूसरा भाव है प्रभु के सिवा मेरा कोई अपना नहीं है। सब ओर से ममता का धागा तोड़कर केवल भगवान् से जोड़ लेना अनन्य भक्ति का लक्षण है। मीरा बाई का कथन है—मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोय।

तुलसीदासजी का कथन है—गलेगी जिह्वा जो कहों और के हों। यदि मैं कह दूं कि राम के सिवा मैं किसी और का हूं तो मेरी जबान गल जाए। ब्रज की गोपियां भी श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य किसी की पूजा या भक्ति के लिए प्रस्तुत नहीं हैं।

अनन्य भक्ति का एक तीसरा ज्ञानपरक अर्थ है प्रभु को अपने से अन्य नहीं मानना। भेद उपासना में भक्त और भगवान् के बीच द्वैत बना रहता है। किन्तु अभेद उपासना में वह भेद दूर होकर भक्त और भगवान् के बीच अनन्यता एवं अभेदवृत्ति प्रकट हो जाती है। मानव का सबसे प्रिय अपना आप ही होता है। अन्य वस्तुओं का प्रेम इस 'मैं' पर टिका होने के कारण ही है। जिसको हम अन्य मानते

हैं उसको अपने से अवश्य ही घटिया मानते हैं। इसलिए जब तक किसी के प्रति अन्य का भाव बना रहता है तब तक वह पराया प्रतीत होता है। अपने स्वार्थ के लिए अन्यों को लूटने, ठगने या शोषण करने की प्रवृत्ति मानव में पैदा हो जाती है। यदि वह धनी बनना चाहता है तो धन कहां से कमाएगा? निश्चय ही अन्यों से। यदि वह शीघ्र धनी बनने के लिए कालाबाजारी करता है तो किनको लूटेगा? निश्चय ही अन्यों को। यदि वह कम दाम देकर अधिक काम लेना चाहता है तो किनका शोषण करेगा? निश्चय ही अन्यों का। यदि अपने आराम के लिए दूसरों को साधन बनाएगा तब भी वह अन्यों का ही शोषण होगा। इसलिए यह अन्य भाव ही मूलतः अन्याय का भाव है। यदि भगवान् या इष्टदेव को भी अपने से अन्य मान लिया तो भगवान् के प्रति भी अन्याय होगा। इसलिए अभेद उपासना में भक्त और भगवान् के बीच भेद की दीवार गिर जाती है। प्रभु मेरे हैं, अन्य नहीं हैं। वरन् मेरे अपने आप हैं। प्रभु मेरे सच्चे मैं ही हैं। प्रभु की विस्मृति मेरा स्वयं के प्रति द्रोह है, प्रभु का प्रेम मेरा स्वयं से ही प्रेम है। प्रभु की भक्ति उन पर किसी प्रकार का एहसान नहीं है, मेरे अपने ही उद्धार की साधना है। प्रभु की प्राप्ति निजानन्द की उपलब्धि है। मेरी अपनी ही महामुक्ति है।

मन एवं बुद्धि का समर्पण

भक्ति का सर्वश्रेष्ठ लक्षण मन एवं बुद्धि का भगवान् के प्रति समर्पण है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। 12/8, गीता

हे अर्जुन! मन को मेरे में लगा और बुद्धि को मेरे में ही निवेशित करके तू मेरे में ही निवास करेगा—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। इसमें भगवान् ने भक्ति का बड़ा सरल एवं स्पष्ट मार्ग बता दिया है। अन्य किसी प्रकार के फूलों से पूजा न करके केवल दो फूल मुझे चढ़ा दो। एक मन का फूल और दूसरा, बुद्धि का फूल। मन सबसे चंचल, बंदर के समान है। यदि जंगल के किसी बंदर को हम किसी दूसरे व्यक्ति को भेंट करना चाहें तो बिना उसे अपने वश में किए क्या दूसरों को भेंट कर सकते हैं? यदि हम किसी को कहें कि पलामू के जंगल का अमुक शेर आपको भेंट करता हूं तो भेंट लेने वाला अचम्भे से पूछेगा कि क्या भेंट की जाने वाली वस्तु भेंट करने वाले के वश में है? जो वस्तु हमारे वश में ही नहीं है उसे दूसरे को कैसे समर्पित किया जा सकता है? इसलिए मन को इन्द्रियों और विषयों की गुलामी से छुड़ाकर ही उसे भगवान् को समर्पित किया जा सकता है। इस कार्य में जीव को पुनः कठिनाई अनुभव होती है। इसका उपचार यह है कि हम मन को उसके स्वामी को ही लौटा देवें। मन हमारा है ही नहीं। वह प्रभु का ही है। उसी ने

हमें तन, मन, धन, इन्द्रिय, बुद्धि, आत्मा आदि का प्रकाश दिया है। हम विवेक से यह निश्चय कर लें कि मन तो है उसी का। उसने हमें कुछ काल के लिए, लोक व्यवहार के लिए दिया है। यह बहुत चंचल है, वश में रहता नहीं। इसलिए मन रूपी बंदर को इसके मालिक को ही लौटा दें जिससे हमारा झंझट भी समाप्त हो जाए तथा प्रभु की अमानत प्रभु को वापस मिल जाए। मन जब-जब कोई उत्पात करे, कुछ चेष्टा करे हम प्रभु का नाम स्मरण करें। मन को याद दिलायें कि तेरा स्वामी सर्वशक्तिमान है। तू तो उसके आदेश से कुछ समय के लिए हमारे पास आया है। तुझे वापस उसी प्रभु के पास जाना है। मन जो जीवात्मा को नचाता रहता है, परमात्मा का नाम सुनते ही, उसका ध्यान करते ही शांत हो जाता है। भक्ति में नाम स्मरण का यही महत्त्व है। मन को निरन्तर अपने स्वामी की याद बनी रहती है और उसके उत्पात रुक जाते हैं। मन की एकाग्रता तथा मन में प्रभु का नाम स्मरण मन के संकल्पों को शुद्ध करके प्रभु को समर्पित करना, मन के क्रियाकलाप पर बुद्धि विवेक का अंकुश रखना तथा मन को अपने वास्तविक स्वामी का स्मरण कराते रहना—ये भिन्न-भिन्न उपाय हैं। जिनसे हमारा मन वश में होता है और प्रभु को समर्पित भी। गुरु नानकदेव कहते हैं—

मन तू ज्योत स्वरूप तू अपना मूल पिछान।

इसी प्रकार बुद्धि जो संसार के कार्य व्यवहार में अपनी बड़ी चातुरी दिखाती है इसे यदि आत्म विषयिनी ब्रह्म विषयिनी बनाया जाए तो यह भी शुद्ध होकर प्रभु में निवेशित हो जाती है। तमोगुणी बुद्धि को त्यागकर रजोगुणी बुद्धि प्राप्त करें। नैतिक-अनैतिक और हित-अहित का ठीक विचार करें। नैतिक आचरण से बुद्धि निर्मल होकर सत्त्वगुणी बन जाए तो उससे सत्-असत् का निर्णय करें। ऐसी सत्-असत् का निर्णय करने वाले बुद्धि को पण्डा कहा जाता है—या पण्डा मंडिता सा पंडिता। बुद्धि का प्रकाश जिसने दिया है बुद्धि उसी के स्वरूप का निर्णय करे तभी बुद्धि की सार्थकता है। सूक्ष्म और सात्त्विक बुद्धि काफी दूर तक विचार की गांठें खोलकर परम सत्य के मन्दिर के द्वार तक पहुंचा देती है। किन्तु विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक होने के कारण सत्य के मंदिर के भीतर प्रवेश नहीं पा सकती। वहां बुद्धि के अहंकार का भी त्याग कर प्रवेश किया जा सकता है। इसलिए बुद्धि को शुद्ध सात्त्विक, प्रभु में चिन्तनमयी बनाकर अन्त में प्रभु के चरणों में समर्पित कर देने में ही बुद्धि की सार्थकता और हमारा हित है। जो भक्त अपना मन और बुद्धि भगवान् को समर्पित कर देते हैं वे मानो अपना सब कुछ भगवान् को ही चढ़ा देते हैं। सब संकल्प-विकल्प एवं कर्म की चेष्टा मन से होती है और करने न करने का निर्णय बुद्धि करती है। अतः जिसने मन और बुद्धि को भगवान् को चढ़ा दिया उसने मानो अपने सारे कर्म, कर्मों की चेष्टाएं एवं

विचार भगवान् को ही चढ़ा दिए। ऐसे भक्त को जो मन और बुद्धि को भगवान् को समर्पित कर देता है, भगवान् क्या देते हैं?

भगवान् कहते हैं ऐसा भक्त साक्षात् मेरे में ही निवास करेगा। इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं है। भगवान् में निवास करने का अर्थ है भगवान् के हृदय में या भगवान् की आत्मा में निवास करना। इस प्रकार जो भक्त अपने हृदय मन्दिर में भगवान् को आसीन करके अपने मन और बुद्धि रूपी दो फूल उन्हें समर्पित करता है भगवान् उस भक्त को अपने हृदय मंदिर के सिंहासन पर बिठाकर उसको अपना आप बना लेते हैं। अपने अमर प्रेम से भक्त की पूजा करते हैं और उसे धन्य-धन्य बना देते हैं। यह भक्ति का अलौकिक चमत्कार है जिसमें भगवान् अपने भक्तों के भी भक्त बन जाते हैं। भगवान् राम को हनुमानजी ने अपनी भक्ति की भावना का परिचय देते हुए कहा कि—

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः।
आत्मदृष्ट्या त्वमेवाहं इति मे निश्चिता मतिः।

हे भगवान्! मैं शरीर की दृष्टि से आपका दास हूं, जीव की दृष्टि से आपका ही अंश हूं और आत्मा की दृष्टि से स्वयं आप (ब्रह्म) ही हूं। इस प्रकार तीन प्रकार की भक्ति मैं जानता हूं। शरीर द्वैत भावना से भगवान् के जीवों की सेवा में लगा रहे, जीवात्मा विशिष्टाद्वैत की भावना से अपने को प्रभु का अंश मानकर कार्य व्यवहार करता जाए और आत्मा अद्वैत भावना से प्रभु के साथ तदाकार होने की अनुभूति प्राप्त करता रहे। और अन्त में भक्त और भगवान् में कोई अन्तर ही न बचे। यही भक्ति का मर्म है।

अभ्यास योगी भक्त

गीता के 12वें अध्याय के 9वें श्लोक में भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! यदि तू अपने चित्त को मेरे में एकाग्र करने में समर्थ नहीं है तो मन को एकाग्र करने का अभ्यास कर। मन चंचल होने के कारण इधर-उधर भागता है। जब-जब भागे तो उसे पुनः खींचकर मेरे में लगावे। कठिन से कठिन कार्य भी अभ्यास द्वारा सिद्ध हो जाते हैं। महर्षि वाल्मीकि ने राम नाम (मरामरा) का अभ्यास करते-करते ब्रह्मर्षि का पद पा लिया। चाहे अभ्यास में त्रुटि होने पर वे उलटा नाम ही जपते रहे किन्तु अभ्यास का चमत्कार मन को एकाग्र कर देता है जिससे चित्त भगवान् के ध्यान में लग जाता है। चाहे उसके नाम उच्चारण करने में त्रुटि रही हो। गीता में भगवान् ने मन को वश में करने के दो प्रबल उपाय अभ्यास और वैराग्य बताए। जैसे भूमि के झाड़-झंखाड़ साफ करके उसे खेती के योग्य बनाया जाता है और बाद में ही उसमें बीज बोया जाता है। उसी प्रकार वैराग्य द्वारा मन के कुसंस्कारों को साफ करके उसमें अभ्यास का नया बीज बोना चाहिए।

भगवत् समर्पित कर्मी भक्त—अगले श्लोक में भगवान् कहते हैं यदि तू मन को वश में नहीं कर सकता है। मन को वश में करने का अभ्यास भी नहीं कर सकता है तो मेरे लिए, मेरे निमित्त कर्म करने वाला बन जा। जो अपने समस्त कर्मों को भगवान् में समर्पित कर देवे। वह भी भगवान् की भक्ति का अधिकारी बन जाता है। जो खेत धर्मार्थ समर्पित कर दे वह सबसे अच्छा है, जो खेत समर्पित न कर सके वह खेत की निराई-गुड़ाई को समर्पित कर दे। जो वह भी न कर सके वह कृषि को समर्पित कर दे। जो मन (कर्मों के संकल्प) को न समर्पित कर सके वह संकल्प को समर्पित करने का अभ्यास करे और संकल्प भगवान् को समर्पित न कर सके और निजी संकल्प से कर्म करता है तो कर्म को ही समर्पित कर दे।

कर्म फल त्यागी भक्त

अगले श्लोक में भगवान् कहते हैं मेरे लिए कर्म करने में भी यदि तू असमर्थ है तो कर्म अपना करता जा पर फल मुझे समर्पित कर दे। यदि भूमि नहीं, बीज भी नहीं, कृषि भी नहीं तब फसल ही समर्पित कर दे।

गीता के हृदय का हृदय—संसार का हृदय है मानव। मानव सुधर जाए तो संसार सुधर जाए। मानव का विकास, संसार का विकास और मानव का ह्रास संसार का ह्रास है। मानव का हृदय भगवान् है। यदि मानव के मन में भगवान् का ध्यान रहे तो मानव सुधर जाए। परमेश्वर को भूलना ही सब प्रकार के सामाजिक रोगों का मूल कारण है। गुरुनानक—

परमेश्वर तो भुल्ल्या व्यापन सब रोग

स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—

'Disease is to be dis-at ease with God.'

अर्थात् ईश्वर के साथ सामंजस्य का टूट जाना ही रोग है।

रैल्फ वाल्डो इमर्सन—

'The begining and end of everything wrong with us is that we have forgotten God.'

अर्थात् हमारे समस्त क्लेशों का प्रथम कारण एवं अन्तिम कारण यही है कि हम ईश्वर को भूल गए हैं।

मानव के विकास के लिए परमेश्वर की निरन्तर स्मृति परम अनिवार्य है। भगवान् का हृदय है भगवद्गीता। भगवान् कहते हैं '**गीता मे हृदयम् पार्थ।**'

अर्थात् हे पार्थ! गीता तो मेरा हृदय है। गीता का हृदय है द्वादश अध्याय। भक्ति हृदय की वस्तु है। मानव शरीर में हृदय शरीर के नीचे से दो तिहाई भाग

की ऊंचाई पर और सिर से एक तिहाई भाग नीचे स्थित है। गीता में 18 अध्यायों में दो-तिहाई (12 अध्याय तक) एक ओर और एक-तिहाई दूसरी ओर अर्थात् 12वें अध्याय में ही भक्तियोग का स्थान है। यह गीता के कलेवर का भी हृदय है और गीता के तत्त्व का भी हृदय है। भक्तियोग का भी हृदय है द्वादश अध्याय का द्वादश श्लोक—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।। 12/12, गीता

जो व्यक्ति किसी विषय का अभ्यास कर रहा है उसकी अपेक्षा जिसने उस विषय को जान लिया है वह निश्चय ही उससे श्रेष्ठ है। परमेश्वर का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति अभ्यासी से तो अच्छा है किन्तु यदि उसका परमेश्वर में ध्यान ही नहीं जमता तो ध्यानयोगी उससे भी श्रेष्ठ है। जो परमेश्वर का ध्यान तो करता है पर परमेश्वर के निमित फलों का त्याग नहीं करता। वह व्यक्ति भी अच्छा भक्त नहीं है। प्रातःकाल कुछ मिनट भगवान् का ध्यान करने के बाद दिनभर व्यापार में दूसरों को लूटने में फंसा हुआ व्यक्ति किस प्रकार का ध्यानयोगी है? सच्चा ध्यानयोगी वही है जो समस्त कर्मों को करते समय ध्यान रखे कि सर्व कर्म प्रभु के लिए ही हो रहे हैं। ऐसे व्यक्ति का ध्यान क्षणिक नहीं निरन्तर होता रहता है। इसलिए ध्यान से भी समस्त कर्मों का भगवान् के लिए त्याग और भी श्रेष्ठ है। त्याग के उपरान्त मनुष्य को शान्ति लाभ होता है। इसी प्रकार भगवान् ने भक्ति के सरल, सरलतर और सरलतम उपाय बताए हैं। जिससे हर स्तर का व्यक्ति लाभान्वित हो सके।

भक्त के लक्षण

भगवान् ने भक्त के इतने ऊंचे लक्षण बताए हैं कि स्थितप्रज्ञ के लक्षण, दैवी सम्पदा के लक्षण और ज्ञानी पुरुष के लक्षण उसी में संक्षेप में कह दिए गए हैं।

अद्वेष्टा—भक्त किसी से द्वेष न करे। द्वेष ही विष है जो द्वेषी और द्वेष के पात्र दोनों को मार डालता है।

मैत्री—सबसे मैत्री करने वाला

करुणा—

निर्मम—ममता रहित

निरहंकार—

सुख-दुःख में सम

क्षमी

संतुष्टः सततं

योगी

हर्ष-विषाद में सम

भयरहित और उद्वेगरहित

अनपेक्ष

शुचि, दक्ष

उदासीनो

सर्वारम्भपरित्यागी

जो न इच्छा करता है

न द्वेष करता है

न आकांक्षा रखता है

शुभाशुभ का परित्यागी

शत्रु-मित्र में समान

मान-अपमान में समान

शीत-उष्ण, सुख-दुःख में सम

सङ्गरहित

निन्दा-स्तुति में समान

सदा संतोषी, हर परिस्थिति में संतोषी

पक्के निवास के बिना

स्थितप्रज्ञ, स्थिर बुद्धि वाला

जैसे हृदय पूरे शरीर के स्पन्दन एवं रक्त संचार का केन्द्र है उसी प्रकार भक्तियोग पूरे गीता के तत्त्वज्ञान का सार है। भक्ति की इस विशद व्याख्या में ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, ध्यानयोग, राजयोग आदि सभी समा गए हैं।

भगवान् ने भक्तियोग को धर्म रूपी अमृत कहा है। जो इसका सेवन करते हैं, वे भक्त अमर हो जाते हैं और भगवान् को अतीव प्रिय हैं। यदि भक्त का एक लक्षण भी जीवन में आ जाए तो जीवन धन्य हो जाए और भक्त का एक लक्षण भी मानव जीवन में प्रतिफलित हो जाए तो मानव देवता बन जाए। अन्य अध्यायों में भगवान् ने अपना ज्ञान बांटा है। किन्तु द्वादश अध्याय में भगवान् ने अपने हृदय का प्रेम व माधुर्य बांटा है। डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा है हमने जिह्वा की तोड़-मरोड़ और तर्क-कुतर्क की जोड़ तोड़ बहुत सीख ली है किन्तु हृदय के अमृतस्रोत को हमने अभी तक स्पर्श नहीं किया है। भक्तियोग हृदय के अमृतस्रोत को प्रस्फुटित

करने वाला योग है। इससे मानव दिव्य, उसका जीवन वरदान एवं संसार बैकुण्ठ बन जाता है। भगवान् का अपना आश्वासन है—

नाहं वसामि बैकुण्ठे योगीनाम् हृदये न च।
मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

हे नारद! न मैं बैकुण्ठ में निवास करता हूं और न योगियों के हृदय में। मैं तो वहीं निवास करता हूं जहां मेरे भक्त मेरा यशोचिंतन गाते हैं।

भक्ति का मनोवैज्ञानिक महत्त्व

(क) यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि मनुष्य जिस वस्तु का विचार करता रहता है वैसा ही बनता जाता है। इसे संस्कृत में कीट भृंगी न्याय कहते हैं। जाल में फंसा हुआ कीड़ा भृंगी का ध्यान करते-करते भृंगी ही बन जाता है। You become what you think, you become what you meditate upon. आप जो कुछ सोचते रहिये वही बन जाइएगा। यदि मनुष्य भगवान् का चिंतन करता रहता है तो वह धीरे-धीरे भगवान् ही बनता जाता है और वह शैतान के चिन्तन से शैतान बन जाता है। भक्ति में भगवान् के निरन्तर ध्यान करने से भागवत गुण अपने आप भक्त में आने लगते हैं। सभी धर्मों में भगवान् को सर्वश्रेष्ठ गुणों का प्रतीक माना गया है। इसलिए मानवता के गुण विकास के लिए भक्ति या उपासना का बहुत बड़ा महत्त्व है। निराशा का चिंतन करने से निराशा ही मिलती है और आशावादी चिन्तक को आशा। केवल कल्पना मात्र के विष से भी लोग मरते देखे गए हैं और काल्पनिक चमत्कारी आशीर्वाद से बड़े-बड़े महारोगी स्वस्थ होते देखे गए हैं। बहुत से श्रद्धा उपचारक बिना औषधि केवल मंत्र या विश्वास के बल पर इलाज करते हैं। मन्दिरों, मठों और आश्रमों में अनेक असाध्य रोगी औषधि विज्ञान से निराश होकर पहुंचते हैं कि मानव की सीमित शक्ति के ऊपर सर्वशक्तिमान की सत्ता है जिसको मानव नहीं बचा सकता उसको भगवान् बचा लेगा। और सचमुच इसका बहुत बड़ा चमत्कारी प्रभाव होता है। चाहे भगवान् उसे ठीक करते हैं या मनोवैज्ञानिक की भाषा में उसका मन ही उसे ठीक कर देता है। प्रभाव होता अवश्य है। दार्शनिक दृष्टि से देखें तो मन ही भगवान् की ज्योति है। बैकुण्ठवासी भगवान् सहायता करे न करे अन्तर्यामी भगवान् तुरन्त ही कर देता है।

(ख) प्रत्येक मानसिक चिकित्सालय में धर्म प्रचार एवं पूजा पाठ के लिए प्रावधान रखा जाता है। क्योंकि जहां डॉक्टर हार जाते हैं वहां अध्यात्म अपना प्रभाव दिखाता है। बड़े-बड़े मानसिक चिकित्सकों का कथन है कि मानसिक रोगी का तीन-चौथाई उपचार तो उसके भजन-पूजन, उपासना प्रणाली से ही हो जाता है। मात्र एक-चौथाई उपचार औषधियों से होता है।

(ग) यदि भगवान् का चिन्तन न करे तो मानव मन अपने आप बुराइयों की ओर फिसल जाता है जिससे अनेक सामाजिक अपराध एवं संकट पैदा होते हैं।

(घ) भक्त के लक्षणों में महान् नैतिक मूल्य सम्मिलित हैं। इसलिए भक्त भक्ति करते-करते अपने आप नैतिक श्रेष्ठता एवं उच्च चरित्र भी प्राप्त कर लेता है। जैसे शत्रु-मित्र में समान, न्याय-कर्तव्यपरायणता, परमात्म-भाव से सबको अपना समझना।

(ङ) भक्त के लक्षणों में अनेक मनोवैज्ञानिक मूल्य भी सम्मिलित हैं। जैसे चित्त की एकाग्रता, राग-द्वेष से मुक्ति, अहंता-ममता से मुक्ति, सुख-दुःख में समानता आदि। इससे मनुष्य का मन एकाग्र, निर्मल, शांत एवं संतुष्ट रहता है जिसके अभाव में सारा जगत् पागलखाना बन जाएगा।

(च) भोगवादी देशों में जहां ईश्वर भक्ति एवं उपासना का उचित स्थान नहीं वहां मानसिक रोग एवं आत्महत्या के काण्ड सबसे अधिक होते हैं। अमेरीका को धन में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है और विज्ञान, तकनीक, अन्तरिक्ष विज्ञान, व्यवसाय, उद्योग, नागरिक चेतना, स्वर्णभण्डार और राजनीति सभी में सर्वोच्च स्थान पर है। न्यूयार्क में डॉक्टरों की सूची में एक-तिहाई मानसिक चिकित्सक हैं। इसका अर्थ स्पष्ट है कि वहां मानसिक रोगी उतने ही अनुपात में होंगे तभी मानसिक डॉक्टरों का धंधा चलता है।

(छ) भक्ति बिना किसी बाहर के अंकुश या डण्डे के भगवान् की सत्ता, उसकी न्यायपरायणता, कर्म सिद्धान्त, विश्वव्यापी नैतिक नियम में विश्वास पैदा करती है। इससे मनुष्य पाप या अपराध करने में संकोच करता है। यदि ये धार्मिक संयम उठा लिए जाएं तो हर मानव के भीतर का दानव प्रकट हो जाए। धर्म एवं धार्मिक उपासना ने युगों से मानवता को बचा रखा है।

(ज) प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डॉ. ह्यूम का कथन है कि मानव जीवन में प्रतीकों का बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है। प्रतीक संक्षेप में छोटे से चिह्न द्वारा एक पूरे शास्त्र या दर्शन को प्रकट कर देता है। इसलिए प्रतीक के सामने बैठते ही मनुष्य के मनपटल पर उसके पीछे का पूरा इतिहास, परम्पराएं, दार्शनिक चिन्तनधारा एवं प्रेरणायें काम करने लगती हैं। जिनका मानव मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। जैसे एक बटन दबाने से पूरे नगर की बत्तियां जगमगाने लगती है उसी प्रकार एक ॐ, क्रॉस या धर्मचक्र के प्रतीक से लाखों-करोड़ों मन हजारों वर्षों के इतिहास एवं संस्कृति की प्रेरणा से जगमगाने लगते हैं।

इस प्रकार भक्त मन से स्वस्थ, चित्त से एकाग्र, बुद्धि से विवेकी, नीति से चरित्रवान, व्यवहार में निष्काम, कर्म एवं समाज में सेवापरायण व्यक्ति बन जाता है। ऐसी आदर्श मानव महिमा और किसी प्रक्रिया से नहीं हो सकती।

योगेश्वर श्रीकृष्ण का राजनीतिक तत्त्व दर्शन

जिन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की, विश्व के करोड़ों व्यक्ति आदर्श पुरुष, पूर्ण पुरुष तथा परम पुरुष के रूप में अर्चना करते हैं उन विश्वगुरु श्रीकृष्ण का राष्ट्रपुरुष के रूप में चिन्तन सम्भवतः कुछ संकुचित भाव दिखाई देगा। किन्तु प्रस्तुत लेख का ऐसा कोई आशय नहीं है। जिस प्रकार से सहस्त्ररश्मि-सूर्य की किसी एक रश्मि का अध्ययन भी सूर्य को समझने में सहायक होता है उसी प्रकार इन पूर्ण पुरुष श्रीकृष्ण के जीवन की राष्ट्रीय रश्मि का अध्ययन भी कम महत्त्व का नहीं। वरन् अभी तक उन योगेश्वर कृष्ण की इसी जीवन रश्मि का कम से कम अध्ययन किया गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व इतना अनन्तमुखी है कि यह कहना कठिन है कि वे क्या नहीं थे। योग-योगेश्वर, ज्ञानदाता, सिद्ध साधक, मित्र, सारथि, सेवक, रक्षक, राष्ट्रनिर्माता, आदर्श कर्मयोगी, आदर्श प्रेमी, आदर्श शासक, सफल राजनीतिज्ञ, शूरशिरोमणि, मानवता के गौरव, लोकनायक, लोकशिक्षक—वे सभी कुछ थे। पिछले 5000 वर्षों की गम्भीर गवेषणा के पश्चात् भी अभी तक उन के बहुरंगी जीवन की अनेकानेक अज्ञात दिशायें खोजनी शेष हैं।

एक पारसी विद्वान् प्रो. फीरीज कावसजी दावर भगवान् कृष्ण की महात्मा ईसा से तुलना करते हुए लिखते हैं—'...महात्मा ईसा इतिहास के उन बहुमूल्य रत्नों में से हैं जिनके लिए हम लोगों की सदा आदरसूचक विशेषणों का प्रयोग करने की इच्छा होती है, परन्तु क्या वे रणभूमि में जाकर युद्ध कर सकते थे या राजदूत का कार्य कर सकते थे? हमारी यह धारणा है कि समस्त संसार के इतिहास में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ, जिसका कार्यक्षेत्र इतना अधिक व्यापक रहा हो, जितना श्रीकृष्ण का था। उन्होंने अपने कीर्तिमय जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जो-जो लोकोत्तर कार्य किए, वे गत पांच सहस्र वर्षों से अटक से लेकर कटक तक और काश्मीर से कन्याकुमारी तक ही नहीं, प्रत्युत सारे जगत् के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में गाए जाते हैं।

वे विद्वान् पारसी प्रोफेसर आगे लिखते हैं—बालक, विद्यार्थी, मित्र, प्रेमी, योद्धा, शासक, राजपूत, तत्त्वदर्शी, योगेश्वर, सिद्धपुरुष तथा ईश्वर के पूर्णावतार

आदि सारे ही रूपों में उनके जीवन की अद्वितीय महानता दृष्टिगोचर होती है। किसी कवि का कथन है कि कीर्तिमय जीवन की एक कार्यसंकुल घड़ी भी कीर्ति रहित जीवन के एक युग से भी श्रेष्ठ है, फिर श्रीकृष्ण ने तो एक सौ पचीस वर्ष की लम्बी एवं पूर्ण आयु प्राप्त की और उसके प्रत्येक घंटे में उन्होंने ऐसे-ऐसे कार्य किए जिनसे उनका नाम तथा यश, सदा के लिए अमर हो गया।

गीता तत्त्व

गीता तत्त्व ही भगवान् कृष्ण का जीवन तत्त्व है। भगवान् स्वयं कहते हैं, 'गीता मे हृदयम् पार्थ' अर्थात् गीता ही मेरा हृदय है। गीता उपनिषदों का सार है पर सार मात्र ही नहीं है उससे अधिक भी कुछ है। उपनिषदों का ब्रह्मज्ञान जगत् के कोलाहल से दूर अरण्यों या वनों में गाया गया। परमशान्ति में बैठे हुए गुरु और शिष्य वार्तालाप कर रहे हैं। पर समस्या है धर्म के उस परम तत्त्व को जीवन में कैसे साकार किया जाए? प्रायः लोग कह देते हैं कि परमार्थ की बातें परमार्थ के लिए है उनका यथार्थ जीवन में, व्यवहार में कोई स्थान नहीं। यह ऐसा ही, जैसा पश्चिम के बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ता गिरजाघर में जाकर प्रभु ईसा का सन्देश गाते हैं—'सभी जीवों से वैसे ही प्रेम करो जैसे अपने आप से करते हो।' और गिरजे से बाहर अपनी प्रयोगशाला में जाकर मानवता के नाश के लिए अणुबम तथा उद्जन बम तैयार करते हैं। पूछने पर वे तर्क देते हैं कि धर्म और राजनीति का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है, विज्ञान का क्षेत्र और धर्म का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। ऊपर से ठीक प्रतीत होते हुए भी इस कथन में कितना धोखा छिपा हुआ है यह हिरोशिमा और नागासाकी के उजड़े हुए भू-प्रदेश से पूछियेगा, कथनी और करनी के इसी अन्तर ने मानवता का नाश कर रखा है। आदर्श और यथार्थ के बीच की इसी खाई में मानवता गिर रही है। गीता ने ऊँचे से ऊँचे ब्रह्मज्ञान को जीवन की भीषण से भीषण परिस्थिति पर लागू करके दिखाया है जब १८ अक्षौहिणी सेनाएं मरने-मारने को उद्यत है और रक्त की नदियाँ बहाना चाहती है वहाँ भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को ब्रह्मज्ञान का महान् उपदेश दिया पर शान्ति लाभ के लिए वन में भागने भी नहीं दिया।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

क्रान्ति के तुमुल नाद के भीतर भी भगवान् ने अर्जुन को शांति का उपदेश दिया। और भीतर की शांति को बिना खोए ही बाहर से भीषणतम युद्ध तक कर सकना ही जीवन की वह अद्भुत कला है जो, गीता ने सिखाई है।

इसमें प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का संयोग है। बाहर से प्रवृत्त रहते हुए भी अन्तर से सर्वथा निर्लिप्त रहना ही गीता का मर्म है। श्रीकृष्ण का जीवन संदेश है—आदर्श को व्यवहार में उतारो, परमार्थ को यथार्थ में साकार करो, संन्यास को कर्म में

विकसित होने दो। जीवन एक इकाई है तथा धर्म राजनीति के दो अलग-अलग क्षेत्र नहीं हैं। दोनों क्षेत्र एक हैं।

भगवान् का आदेश है—'मामनुस्मर युध्य च।' मुझे याद भी करता रह और युद्ध भी करता जा।

स्वदेश और स्वधर्म

देश और धर्म को भिन्न-भिन्न मानने से देश की सेवा धर्मपूर्वक नहीं हो सकेगी और धर्म हमें इहलोक में उत्थान न दे सकेगा। यदि धर्म से राजनीतिक बेहोशी फैले तो उसका क्या लाभ है और यदि धर्म साधना से देश लुट जाए तो वह साधना किस काम की? शास्त्र का मत है—'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस्‌सिद्धि स धर्मः।' जिससे इहलोक और परलोक दोनों सुधरे वही धर्म है अतः भारत में राजनीति धर्म का एक अंग है इसे राजधर्म कहा है। बिना धर्म के राजनीति वेश्या के समान हो जाएगी। अतः भगवान् कृष्ण जहाँ धर्मरक्षक हैं वहाँ राष्ट्र निर्माता भी हैं।

धर्म युद्ध

भगवान् कृष्ण ने गीता शास्त्र में धर्म युद्ध की कल्पना बड़ी सुन्दर दी है। राग-द्वेष से हीन होकर, सुख-दुःख को समान जानकर मित्र-शत्रु में भेद न करते हुए, अपने मन की शांति को स्थिर रखते हुए, भगवान् को निरन्तर स्मरण करते हुए निष्काम कर्म भाव से धर्म रक्षा के लिए यदि युद्ध किया जाय तो वह धर्म युद्ध है। सच्चा क्षत्रिय युद्ध धर्म के लिए ही लड़ता है, किसी स्वार्थ सिद्धि के लिए या प्रतिकार भावना से नहीं। शांति निश्चय ही उत्तम है किन्तु यदि अन्तर की शांति कायम रख कर असंग भाव से युद्ध किया जाय तो वह भी महान् है। जो धर्म की पुकार पर युद्ध से भागे, वह कायर है।

क्षत्रिय कसाई या बूचड़ नहीं है वह धर्म की रक्षा के लिए शस्त्र धारण करता है। यदि युद्ध के साथ योग का संयोग न हो, यदि शक्ति के साथ शील का समन्वय न हो तो बल का दुरुपयोग प्रारम्भ हो जायगा।

श्रीकृष्ण के 'मामनुस्मर युध्य च' में ध्वनि है कि मनुष्य निरन्तर भगवान् को भी स्मरण रखे तथा जीवन के संघर्ष में भी लगा रहे। इसी भाव को गुरु गोविंदसिंह ने प्रकट किया है—

धन्य जिओ तिंह को जग में, मुख ते हरि चित्त में युद्ध विचारे।

यज्ञमय जीवन

भगवान् का अपना जीवन भी यज्ञमय था, वे स्वयं कहते हैं—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र, लोकोऽयं कर्मबन्धनः। गीता 3/9

अर्थात् यज्ञ के सिवा शेष सभी कर्म बन्धन में डालने वाले हैं। श्रीकृष्ण का कोई भी स्वार्थ शेष नहीं था, कोई कामना नहीं थी। फिर भी वे इतने कर्मशील थे। उन का समस्त जीवन 'इदं न मम्' की यज्ञ भावना से ओत-प्रोत था। राष्ट्र के प्रत्येक बच्चे को इसी भावना से कार्य करना चाहिए, स्वार्थ एवं अहंकार राष्ट्रोत्थान के लिए घातक है।

राज्य के उद्देश्य

श्रीकृष्ण की घोषणा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। गीता 4/8

यह एक राजकीय घोषणा भी है। सज्जनों की रक्षा करें, दुष्टों को दण्ड देवें।

समता

समता का आश्वासन देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। गीता 5/18

अच्छा शासक सभी नागरिकों को समान अधिकार प्रदान करे।

वह पशुओं तथा छोटे जीवों का भी संरक्षण करे। किसी प्रकार का पक्षपात न करे।

अनन्य राष्ट्रभक्ति

भगवान् की प्रतिज्ञा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। गीता 9/22

जो लोग अनन्य भाव से मुझ राष्ट्र पुरुष का चिन्तन करते हैं मैं उन के योगक्षेम का वहन करता हूँ। अनन्य भाव से राष्ट्र चिन्तन करने का अर्थ है राष्ट्र को अपने से अन्य, अपने से भिन्न न माने। अर्थात् अपने हित और राष्ट्र हित को भिन्न न समझे। मैं राष्ट्र का अंग हूँ तथा राष्ट्र के हित में ही मेरा हित है, ऐसा मानकर राष्ट्र सेवा करने से ही राष्ट्र का उद्धार हो सकता है। यदि देश के मुसलमान तथा ईसाई, भारत के हित में ही अपना हित मानें तथा राष्ट्र को पराया न समझें तो क्या वे राष्ट्र के साथ कभी द्रोह कर सकते हैं?

विराट् रूप दर्शन

श्रीकृष्ण राष्ट्र पुरुष हैं। विराट् रूप में उन्होंने अर्जुन को संगठित राष्ट्र की

विराट् शक्ति का रूप दिखाया है। विराट् रूप के सामने एक व्यक्ति अति लघु है। व्यक्ति समझता है मैं सब कुछ कर रहा हूँ, किन्तु विराट् राष्ट्र के दर्शन करने पर वह लज्जित हो जाता है। भगवान् उसे कहते हैं—राष्ट्र के इस विराट् रूप के मुख में सारे पापी पहले ही भस्म होने के लिए जा रहे हैं, 'निमित्त मात्रं भव सव्य साचिन्', हे अर्जुन, तू निमित्त मात्र बन जा।

राष्ट्र शरणागति

राष्ट्र की शरण में आने वालों को आश्वासन देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

चाहे बड़े से बड़ा दुराचारी भी मुझ राष्ट्रपुरुष की शरण में आ जावे, उसकी रक्षा होगी।

'**न मे भक्तः प्रणश्यति**' गीता 9/30

अर्थात् राष्ट्रभक्त का कभी नाश नहीं होगा।

वे आह्वान करते हुए मानव से कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। गीता 18/66

इसमें ध्वनि है राष्ट्रैकं शरणं व्रज—हे मानव, तू सर्व धर्मों को त्याग कर एक मुझ राष्ट्रपुरुष की शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा।

बल तथा बुद्धि

बल तथा बुद्धि के संयोग से ही राष्ट्र का कल्याण है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।। गीता 18/78

जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं तथा जहाँ धनुर्धारी अर्जुन है, जहाँ शस्त्र और शास्त्र का, युद्ध और यज्ञ का, बल एवं बुद्धि का समन्वय है, वहीं विजय है, वैभव है तथा यश है। राष्ट्रोत्थान के लिए जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराज का यह मुक्ति मन्त्र क्या हम सुनेंगे।

गीता सिर्फ व्यक्तियों या राष्ट्र विशेष का नहीं बल्कि समग्र विश्व के संकट निवारण हेतु अपरिहार्य ग्रंथ है।

—इंडोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण